

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180549

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP--557--13-7-71--3,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

H84
S53P

Accession No.

H/330

Author

शम, रामविकास

Title

प्रगतिशील साहित्य की समीक्षा

This book should be returned on or before the date last marked below

1957.

प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ

डा० रामविलास शर्मा

विनोद पुस्तक मण्डिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—

विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा ।

द्वितीय संस्करण फरबरी—१९५७

मूल्य ३॥)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस.
बागमुजपफर खाँ, आगरा ।

१९५४ में मृत्युदण्ड पाने वाले

दुखित दुसाध

महावीरतेली

गुप्तेश्वर पाठक

की

अमर स्मृति को

भूमिका

हिन्दी साहित्य में किसी धारा, किसी प्रवृत्ति या किसी वाद की आज इतनी चर्चा नहीं है जितनी प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य की। आलोचना की हर पुस्तक में साप्ताहिक और मासिक पत्रों में, विद्यालयों में, विद्यार्थियों के प्रश्न-पत्रों में हर कहीं इसकी चर्चा रहती है। छायावाद के बाद इतिहासकार स्वभावतः प्रगतिवाद का नाम लेने लगे हैं। पक्ष और विपक्ष में जो कुछ लिखा जाता है, उसमें जोश की मात्रा काफी होती है। कुछ लोगों को प्रगतिशील विचार-धारा अपनी तरफ खींचती है, तो दूसरों को वह बिजली के करंट की तरह ठेलती हुई भी दिखाई देती है। नौजवान लेखकों पर और विद्यार्थियों पर इसका असर ज्यादा है। हम अक्सर नेकनियत बुजुर्गों को यह कोशिश करते देखते हैं कि उन्हें इसकी हवा न लग जाए। कुछ दिन हुए बिहार के एक लेखक ने फतवा दिया था कि प्रगतिवाद मर गया। लेकिन मरने पर भी शायद वह भूत बन कर अपने विरोधियों को इस तरह सताता है कि उनकी सन्निपात की सी बड़बड़ाहट और भी बढ़ जाती है।

एक प्रबन्ध-संग्रह में प्रगतिवाद के लिए लिखा गया है कि वह सनातन, प्राचीन, परम्परागत एवं शाश्वत सत्त्वों की उपेक्षा करता है, मार्क्सवाद पर आधारित होने के कारण भारतीय आध्यात्मिक भावना के प्रतिकूल है, कामवासना का नग्नरूप उपस्थित करता है, हिंसा का आभय लेकर चलता है, इस लिये निंद्य है; भ्रष्टा की उपेक्षा करता है, केवल आर्थिक कसौटी पर हर चीज परखता है, किसानों और मजदूरों तक ही सीमित है, इसलिए इसका क्षेत्र संकुचित है।

एक दूसरे लेखक का कहना है, शारीरिक और आर्थिक सुख ही उसका चरम लक्ष्य है, भौतिक सुख के परे उसकी दृष्टि ही नहीं जाती, प्रगतिवादी यथार्थ का नग्न-चित्रण करता है, जिसमें न काव्य है और न कला, शायद सौंदर्य और कला को भी वह पूँजीवादी वाग्‌विलास समझता है, उसकी दृष्टि में नारी का एक ही रूप है, उपभोग्य रमणीत्व ।

एक तीसरे लेखक का कहना है कि फ्रांस के विदेशी वातावरण में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई, इसमें मत-स्वातन्त्र्य की बहुत गुंजाइश नहीं, प्रगतिवादी लेखक स्प्रिंगदार मखमली सोफों पर बैठ कर बिजली के पंखे के नीचे खस की टट्टी की ओट में पार्कर पेन से मज़दूरों पर कविता लिखता है ।

इस तरह के आक्षेपों के बावजूद प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य इस युग की ऐतिहासिक आवश्यकताएँ—कम से कम एक हद तक—पूरी करता है और हिंदी साहित्य में उसका प्रभाव अच्छा ही पड़ा है, इस बात को बहुत से आलोचक भी मानते हैं । श्री सीताराम “प्रबन्ध-पराग” नाम की पुस्तक में लिखते हैं, “इसमें सन्देह नहीं कि प्रगतिवादी साहित्यकार युगधर्म को लेकर चला है ।” श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार ने “प्रबन्ध-प्रकाश” में लिखा है, “प्रगतिवाद, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, समय की आवश्यकता है । और यही कारण है कि छायावाद व रहस्यवाद के प्रायः सभी प्रमुख हिंदी कवियों ने अपनी दिशा बदल ली है ।”

हिन्दी के वयोवृद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय अपनी पुस्तक “प्रबन्ध-प्रभाकर” में प्रगतिवाद के गुणों का उल्लेख करते हुए कहते हैं, “प्रगतिवाद हमको स्वार्थ-परायण व्यक्तिवाद से हटा कर समष्टिवाद की ओर ले गया है । उसने लेखकों को शैयासेवी अकर्मण्य नहीं रखा है ।”

प्रगतिशील साहित्य के विकास की संभावनाओं के बारे में श्री हजारी-प्रसाद द्विवेदी “हिन्दी साहित्य” में लिखते हैं, “प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान् उद्देश्य से चालित है । इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी संभावनाएँ अत्यधिक हैं । भक्ति आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नए जीवन

दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है ।”

प्रगतिशील साहित्य की लोकप्रियता का एक सबूत यह है कि ऐसे लेखक जो प्रगतिवाद के विरोधी हैं, अपनी विचारधारा को सच्चा प्रगतिवाद कहकर पेश करते हैं । मिसाल के लिए श्री इलाचन्द्र जोशी “विवेचना” में प्रगतिवादी लेखकों से कहते हैं कि “यदि वे सच्चे हृदय से यह मानते और चाहते हैं कि प्रगतिवाद के नाम पर किसी भी यथास्थित्यात्मक जगड्वाल को (चाहे वह मार्क्सिया ही क्यों न हो) अपनाए रहना घोर मूर्खता है, तो मैं उनसे अनुरोध करूँगा कि वे मेरे नए प्रगतिवाद का अनुसरण करें, जिसमें वास्तविक वाह्य प्रगति तथा अन्तरीण प्रगति को समान-समन्वयात्मक रूप से अपनाया गया है । कई वर्षों से विभिन्न निबंधों द्वारा मैं जिस महत्वपूर्ण नए प्रगतिशील दृष्टिकोण को समझाने का प्रयत्न करता आ रहा हूँ, उसे सम्बद्ध रूप से समझने का सुयोग उन्हें पुस्तकाकार में एकत्रित निबंधों द्वारा मिल सकेगा ।”

इस महत्वपूर्ण प्रगतिशील दृष्टिकोण के बावजूद जो प्रगतिवाद चल पड़ा है, उसके बारे में इलाचन्द्रजी कहते हैं, “छायावादी युग ने कवियों को अन्तर्लोक की गहनता में डुबा कर एकान्त आत्मचिंतन में मग्न कर दिया था और सामूहिक जीवन की विराट् वास्तविकता से साहित्य संसार को विमुख कर दिया था । प्रगतिवाद ने वाह्य जगत के जीवन-संघर्ष की ओर हमारी चेतना को उन्मुख कर साहित्य का बहुत बड़ा उपकार किया है । यह बात हमें किसी भी हालत में नहीं भुलानी होगी ।”

श्री क्षेमचन्द्र सुमन और श्री योगेन्द्रकुमार मल्लिक की पुस्तक “साहित्य विवेचना” की भूमिका में प्रगतिवादी समीक्षा की बहुत-सी खामियों का उल्लेख करने के बाद श्री नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं, “उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी हैं । प्रथम यह कि काव्य साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है, और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है; द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा । न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन

और हासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव-संबंधी एक नई माप-रेखा और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है जिसका उचित उपयोग हम करेंगे।^१

इन उद्धरणों से यह बात जाहिर हो जाती है कि प्रगतिशील साहित्य अपने युग की माँग को पूरा करने वाला साहित्य है। उसकी शक्ति इस बात में है कि वह समाज के वास्तविक जीवन के निकट है। इसमें सन्देह नहीं कि ग्राम लोगों की धारणा यह है कि जनता का पक्ष लेकर लड़ने वाला साहित्य प्रगतिशील है। शायद इसीलिये उसके विरोधी नाराज होकर विदेशी प्रभाव, मार्क्सवाद की कट्टरता, कम्युनिस्ट पार्टी की दासता का आरोप प्रगतिशील लेखकों पर करते हैं। लेकिन जो साहित्य जनता का पक्ष लेगा, वह जरूर शक्तिशाली होगा और अजेय गति से आगे बढ़ता जायगा।

प्रगतिवाद अलग है, प्रगतिशील साहित्य कोई और चीज है, इस तरह का सूक्ष्म भेद किया गया है। जैसे छायावादी कवि की रचनाएँ छायावाद से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही प्रगतिशील या प्रगतिवादी लेखकों की रचनाएँ प्रगतिवाद से भिन्न नहीं हैं। हिन्दी आलोचना में प्रगतिशील और प्रगतिवाद का उसी तरह व्यवहार होता है जैसे छायावाद और छायावादी का। एक आलोचक का विचार है कि मार्क्सवादी सौंदर्य-शास्त्र का नाम प्रगतिवाद है। लेकिन बीसवीं सदी के भरत मुनि या अरस्तू के अभाव में वह सौंदर्य-शास्त्र अभी रचा नहीं जा सका। इस तरह प्रगतिवाद एक भविष्य की वस्तु ठहरता है जो किसी भावी सौंदर्य-शास्त्री के जन्म पर अवलम्बित है। ऐसे प्रगतिवाद की चर्चा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य है उस नई विचारधारा और साहित्य की चर्चा करना जिसे लोग प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य कहते हैं और जिसका प्रसार लगभग सन् ३० के बाद हिंदी साहित्य और हिन्दुस्तानी समाज की ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ है। प्रगतिशील साहित्य की समस्याओं का यहाँ मतलब है हिन्दी साहित्य के विकास की समस्याएँ। इसलिए इस पुस्तक में मार्क्सवाद और सौंदर्य-शास्त्र का गम्भीर विवेचन न मिले तो पाठक रुष्ट न हों। सम्भव है इस पुस्तक में कुछ ऐसी समस्याएँ छूट गई हों जो पाठकों के लिए महत्वपूर्ण हों या ऐसी आ गई हों जो उनके लिए महत्वहीन

हों। लेखक के लिए मूल समस्या यह है कि हम अपने साहित्य की जातीय विशेषताओं की रक्षा करते हुए किस तरह उन्हें विकसित करें कि हमारी जनता की चेतना निखरे और वह आज के दुखों और अभावों की दुनियाँ से निकल कर सुख और स्वाधीनता के प्रकाश में साँस ले सके। यदि यह समस्या महत्वहीन है तो सारा साहित्य भी निरुद्देश्य है। यदि महत्वहीन नहीं है, सिर्फ उस पर अच्छी तरह प्रकाश नहीं डाला गया या ठीक से उसे पेश भी नहीं किया गया तो इस काम में अपनी आलोचना द्वारा आप मेरा हाथ बटाएँ, इसके लिए मैं आपको सादर आमंत्रित करता हूँ।

गोकुलपुरा, आगरा।

—रामविलास शर्मा

५-३-५४.

दूसरे संस्करण की भूमिका

हिन्दी पाठकों और लेखकों ने इस पुस्तक के लिये जो स्नेह प्रदर्शित किया है, उसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। इस स्नेह के कारण ही इसके दूसरे संस्करण का अवसर आया है। अनेक लेखक-बन्धुओं का यह विचार है कि अब प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता नहीं है। इस समस्या को लेकर मैंने “प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता” नाम का निबन्ध लिखा है और “राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य” के स्थान पर पुस्तक में उसे दे दिया है। “संस्कृति और जातीयता” नाम से एक निबन्ध और जोड़ दिया है। आशा है, इससे पाठकों के लिये पुस्तक किंचित् अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

११-१-५७.

—रामविलास शर्मा

विषय-तालिका

क्रम	पृष्ठ संख्या
१—साहित्य का उद्देश्य	१
२—साहित्य की परम्परा	२५
३—भारतीय संस्कृति बनाम मार्क्सवाद	४०
४—साहित्य और यथार्थ	६०
५—साहित्य और नारी समस्या	१०१
६—प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता	१३०
७—जातीय भाषा के रूप में हिन्दी का प्रसार	५३
८—तुलसी-साहित्य के सामन्त विरोधी मूल्य	१६४
९—मैथिली और हिन्दी	१८६
१०—संस्कृति और जातीयता	१९९



साहित्य का उद्देश्य

(१)

“साहित्य की परख” नाम के निबन्ध में श्री शिवदानसिंह चौहान कहते हैं, “कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, उसकी सृजन-चेष्टा वास्तव जीवन के अनुभव और सौन्दर्य-मूलक प्रवृत्ति अर्थात् व्यवस्था, सामंजस्य और मुक्ति-कामी निसर्ग-चेष्टा से उत्प्रेरित होती है।”

अगर कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है तो साहित्य में प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी का भेद करना निरर्थक है। उसके पास दो चीजें होनी चाहिये, एक तो अनुभव, दूसरी सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति। ये दो हों तो वह स्वभावतः प्रगतिशील होगा।

लेकिन यह जो अनुभव कलाकार हमें देता है, सामाजिक जीवन से निरपेक्ष नहीं होता। सामाजिक जीवन को स्वभावतः प्रगतिशील कहने का साहस चौहान ने भी नहीं किया। सामाजिक जीवन में कुछ तत्व प्रगतिशील होते हैं, कुछ प्रतिक्रियावादी। इन दोनों के विरोध से समाज की गति मिलती है। कोई भी साहित्यकार समाज में रह कर उसके विकास की इस प्रक्रिया से तटस्थ नहीं रह सकता।

वास्तव में जो लोग कहते हैं कि साहित्य स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है, वे अप्रत्यक्ष रूप से यह मानकर चलते हैं कि साहित्य प्रतिक्रियावादी भी होता है। प्रगतिशील शब्द सापेक्ष अर्थ का बोधक है। कोई भी घटना-प्रवाह किसी की तुलना ही में प्रगतिशील होगा। इसलिये निस्सन्देह अर्थ में प्रगतिशील शब्द का व्यवहार कर सकना मुश्किल नहीं है।

Post Graduate Library
College of Arts & Commerce, O. U.

न केवल कलाकार का सामाजिक अनुभव निरपेक्ष नहीं है, उसकी सौंदर्य मूलक प्रवृत्ति भी सामाजिक विकास और सामाजिक सम्बन्धों से परे नहीं है। किसी भी समाज विशेष के मनुष्य की सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति उसके समूचे ऐतिहासिक विकास का परिणाम होती है।

यह साबित करने के लिये कि साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, चौहान ने “आलोचना” (नं० १) के संपादकीय में महान् लेखकों का उदाहरण दिया है। उन्होंने लिखा है, “इसमें सन्देह नहीं कि महान् लेखकों की रचनाओं में अपने-अपने काल की सामाजिक विचार-धाराएँ व्यक्त हुई हैं और उनकी कृतियाँ अपने समय के ऐतिहासिक वास्तव से पूर्णतः सम्बद्ध हैं।

सवाल महान् लेखकों का ही नहीं है, सवाल साधारण लेखकों का भी है। पहला सूत्र था, कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। क्या अब हम कहें, कलाकार स्वभावतः महान् भी होता है ? और अगर वह महान् है तो उसकी महत्ता की कसौटी क्या है ?

चौहान आगे लिखते हैं, “लेकिन इन महान् लेखकों को किसी शोषक वर्ग के खूँटे से बाँधकर जॉचना व्यर्थ होगा, क्योंकि उनकी रचनाओं में अपने समय का समग्र जीवन, तमाम वर्गों के अन्तःसम्बन्ध प्रतिबिम्बित हुए हैं और इस प्रकार उस युग की मूल समस्याओं का उद्घाटन हुआ है।”

इसका मतलब यह हुआ कि महान् लेखक अपने युग की मूल सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन अपने साहित्य में करते हैं। हर तरह का अनुभव लेखक को बड़ा बनाने के लिये काफी नहीं है; अनुभव मूल समस्याओं का उद्घाटन करने वाला होना चाहिये।

चौहान आगे लिखते हैं, “इसी कारण उनकी रचनाओं में शोषण दोहन की विचारधाराओं के प्रति गहरे प्रतिवाद की मुखर ध्वनि है और आजादी और समानता की विचारधारा के प्रति गहरा मोह है। महान् लेखक यथार्थवादी और अपने समय के आलोचक थे। वस्तुतः वह अपने काल के वर्ग-समाज के विद्रोही थे। इसलिए महान् लेखक चाहे जिस काल में और चाहे जिस वर्ग में पैदा हुए हों, वह मूलतः मानववादी थे। उनकी महानता का यही रहस्य है कि उन्होंने ‘मनुष्य’ को ही प्रमाण और प्रतिमान माना,

जिससे उनकी सहानुभूतियाँ मानवमात्र तक प्रसरित हुईं—विश्वजनीन बनीं ।”

इस स्थापना में चौहान के पहले सूत्र की सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति छूट गई है; महत्ता का कारण बतलाते हुए विषयवस्तु पर ही जोर दिया गया ।

चौहान के वाक्यों से यह भी स्पष्ट है कि इन महान् लेखकों का मानववाद सभी मानवों के प्रति सहानुभूति प्रसरित नहीं करता । ऐसे समाज में जहाँ वर्ग और उनका परस्पर विरोध मौजूद हों, वे शोषकों का दृष्टिकोण न अपनाकर जन-साधारण का दृष्टिकोण अपनाते थे । इस तरह साहित्य वर्गों से परे न हुआ बल्कि उनके सम्बन्धों और संघर्ष को प्रतिबिम्बित करने वाला हुआ । और महान् लेखक वही कहलाता है जो सामाजिक यथार्थ की मूल समस्याओं का उद्घाटन करता है और जनता के उत्पीड़कों की आलोचना करता है, उनके प्रति विद्रोह तक करता है । इसलिए उसके मानववाद का भी एक वर्ग आधार होता है । वह “मानव-मात्र” तक अपनी सहानुभूतियाँ प्रसरित नहीं करता । उसकी सहानुभूतियाँ विश्वजनीन एक सीमित अर्थ में ही होती हैं,—जन-साधारण के लिए विश्वजनीन, न कि वर्ग-भेद छोड़कर समान रूप से सभी के लिए ।

महान् शब्द भी सापेक्षता-मूलक है । जहाँ महान् लेखक होंगे, वहाँ अ-महान् लेखक भी होंगे । जहाँ कुछ लेखक वर्ग-समाज के प्रति विद्रोही होंगे, वहाँ कुछ उसके हिमायती भी निकल आयेंगे । जहाँ कुछ लेखक मूल समस्याओं का उद्घाटन करेंगे, वहाँ कुछ ऐसे भी होंगे जो अ-मूल को ही मूल कह कर पेश करेंगे । इस तरह साहित्य में दो धाराओं का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ेगा, उन्हें चाहे महान् और अमहान् कहिए चाहे प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी कहिए । इसलिए यह स्थापना कि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, सही साबित नहीं होती ।

महान् लेखकों को वर्ग-समाज का विद्रोही मानने पर कलाकार या आलोचक से तटस्थता की माँग करना आश्चर्यजनक है । चौहान ने “साहित्य की परख” में तटस्थ होने की कठिनाई बयान करते हुए कहा है, “वर्तमान में हमारी दृष्टि बहुत संकुचित और सीमित रहती है—वस्तुएँ, घटनाएँ, भावनाएँ, रागद्वेष अपनी अति निकटता के कारण सारे दृष्टिपट पर छा जाते हैं

और निर्णैता स्वयं व्यक्तिगत या सामाजिक रूप से इन घटनाओं या भावनाओं से अपने को निर्लिप्त और निस्संग नहीं रख सकता; अतः जो उसे महत्वपूर्ण लगता है वही स्थायी और सुन्दर भी लग सकता है ।”

अगर महान् लेखक निःसंग और निर्लिप्त नहीं होता, वह वर्ग-संघर्ष से तटस्थ न रह कर शोषण-व्यवस्था का विरोध करता है, तो उसका मूल्याङ्कन करने वाला आलोचक ही उस संघर्ष से तटस्थ क्यों हो ? क्या यह अधिक स्वाभाविक नहीं है कि वह जितना ही जन-साधारण का पक्ष लेगा, उतना ही जन-साधारण का पक्ष लेने वाले साहित्य का मूल्य भी वह समझेगा ? इसलिये न तो साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, न आलोचक । वे प्रगतिशील तभी होते हैं जब वे जन-साधारण का पक्ष लेते हैं ।

चौहान ने “आलोचना” (नं ५) में साहित्य और कला की यह व्याख्या दी है, “साहित्य और कला वस्तु-चित्रों तथा मानव-चरित्रों की भाषा में जीवन के वैविध्यपूर्ण और परस्पर विरोधी सम्बन्धों और अन्तर्सम्बन्धों के यथार्थ को उसके गर्भ में विकासमान संभावनाओं की दृष्टि से मूर्त और कलात्मक रूप में प्रतिबिम्बित करती हैं । साहित्य और कला की कृतियाँ इसका परिणाम होती हैं ।”

समाज के परस्पर विरोधी सम्बन्ध और उनके गर्भ में विकासमान संभावनाओं की दृष्टि - साहित्यकार के लिये दो चीजें आवश्यक हुईं, एक तो सामाजिक यथार्थ जिसका वह चित्रण करेगा, दूसरी वह दृष्टि जिससे वह उस यथार्थ को जाने पहचानेगा । लेकिन न तो हर साहित्यकार यथार्थ को एक ही दृष्टि से देखता है, न उससे एक सी सामग्री लेकर साहित्य में चित्रित करता है । इसलिये चौहान की व्याख्या सभी साहित्य और सभी कला पर लागू नहीं होती । यह व्याख्या साहित्य को स्वभावतः प्रगतिशील या स्वभावतः महान् मानकर की गई है । लेकिन जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, सभी साहित्य प्रगतिशील या महान् नहीं होता ।

चौहान की व्याख्या में यह भी ध्यान देने की बात है कि सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति फिर गायब है । यहाँ केवल दृष्टिकोण, समाज के सम्बन्धों पर जोर है; इनका माध्यम वस्तुचित्रों और मानव चरित्रों की भाषा है । पता नहीं यह

स्वभाव से ही सौन्दर्य मूलक है या नहीं। अनुभव यही बतलाता है कि सुघड़ और अनगढ़ का भेद यहाँ भी बराबर देखने को मिलता है।

चौहान की व्याख्या में दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि उसके दोनों वाक्यों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। पहले वाक्य में साहित्य और कला की व्याख्या की गई है। दूसरे वाक्य में कहा गया है कि साहित्य और कला की कृतियाँ “इसका” परिणाम होती हैं। “इसका” में किस क्रिया की तरफ संकेत है, यह पता नहीं लगता। अगर कला की कृतियाँ चौहान की व्याख्या का परिणाम हों तो दूसरी बात है।

साहित्य को परखने की वैज्ञानिक कसौटी बतलाते हुए चौहान उसी नोट में आगे कहते हैं, “उनकी या किसी भी युग के कलाकार और साहित्यकारों की प्रतिभा, ईमानदारी और उनकी कृतियों की कलात्मक श्रेष्ठता को परखने की वैज्ञानिक कसौटी भी यही है कि जाँच करके यह देखा जाय कि अपने जीवन काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा प्राप्त अनिवार्य विचार-सीमाओं के होते हुए भी उन्होंने सच्चे कलाकार की सत्यान्वेषी वस्तुनिष्ठा से अपने युग-जीवन की वास्तविकता या सत्य का कितना यथार्थ और मूर्त चित्रण किया।”

यह युग-जीवन की वास्तविकता हर युग में एकसी है या अलग-अलग? अगर एकसी होती तो अपने जीवन काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा प्राप्त विचार सीमाओं का सवाल न उठता। इसका मतलब यह हुआ कि साहित्य की कसौटी ऐतिहासिक होनी चाहिए, उसकी परख किसी अपरिवर्तन-शील युग-सत्य के आधार पर नहीं होती।

चौहान की व्याख्या में कलाकार से माँग की गयी है कि सत्यान्वेषी वस्तुनिष्ठा से वास्तविकता का यथार्थ चित्रण करे। सारा जोर सत्य, वास्तविकता और यथार्थ पर है। यानी वास्तविक कलाकार वास्तविकतान्वेषी वस्तुनिष्ठा से वास्तविकता का वास्तविक चित्रण करे। अथ से इति तक कहीं वास्तविकता का पल्ला नहीं छूटने पाया।

चौहान ने यह कसौटी कलाकार की प्रतिभा और ईमानदारी परखने के लिये ही नहीं, उसकी कृतियों की कलात्मक श्रेष्ठता परखने के लिये भी बताई

है। लेकिन युग-जीवन की वास्तविकता अखंड इकाई नहीं है। कोई भी युग-सत्य द्वंद्व से परे नहीं होता। आज के युग का सत्य यह है, एक तरफ जनता साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिये संघर्ष कर रही है, दूसरी तरफ साम्राज्यवादी ताकतें और उनके हिमायती उसे दबाने और गुलाम बनाये रखने की कोशिश कर रहे हैं। इस द्वन्द्व में कलाकार किसी अद्वैत युगसत्य का सहारा न लेकर जनता या उसके विरोधियों का पक्ष लेता है। इसलिये स्वभावतः प्रगतिशील न होकर उसे युगविशेष और समाजविशेष के संघर्ष में जनता का पक्ष लेने पर ही प्रगतिशील कहा जा सकता है।

उसकी कलाकृति सुन्दर है या असुन्दर, यह उसके मूर्त चित्रण पर ही निर्भर नहीं करता। अनुभव बतलाता है कि साहित्य में अङ्कित हर मूर्ति सुन्दर नहीं होती।

लेकिन अपने युग के या और किसी पिछले युग के साहित्यकार ने जो युग-सत्य प्रकट किया है, उसकी सत्यता को जानने का क्या उपाय है? मोटे तौर पर सच और भूठ का भेद छिपा नहीं रहता। भूठ बोलने वाले की आंखें गवाही दे जाती हैं। लेकिन कुछ लोग भूठ बोलने की कला में ऐसे प्रवीण होते हैं कि वे उसे सत्य से ज्यादा प्रभावशाली बना देते हैं। इसलिये साहित्य में प्रतिबिम्बित यथार्थ को परखने के लिये समाज को जानकारी आवश्यक है। साहित्य का इतिहास समाज के इतिहास से अलग न होकर उसका एक अंग होता है।

साहित्य को परखने की यह कसौटी समाजशास्त्रीय हुई या असमाज-शास्त्रीय?

“आलोचना” (नं १) के संपादकीय में चौहान ने लिखा है, “आचार्य शुक्ल के पश्चात् हिंदी-आलोचना ने अपने विकास के लिये नये पथ खोजे— समाजशास्त्र का आधार लेकर ‘प्रगतिवाद’ और मनोविज्ञान का आधार लेकर ‘प्रतीकवाद’ की विचारधाराएँ साहित्यालोचन का दृष्टिकोण बनीं। परन्तु पिछले कई वर्षों से हिंदी का आलोचना-साहित्य एक अवांछित गतिरोध की स्थिति में पड़कर मनमाने पथों पर भटकता रहा है।”

इससे यही पता चलता है कि आरम्भ में प्रगतिवाद ने समाजशास्त्र का

आधार लिया, सो ठीक किया । सिर्फ बाद में कुछ लोगों ने उसे पथभ्रष्ट कर दिया । चौहान ने अक्सर जो कुत्सित समाजशास्त्र की बात कही है, उससे भी अन्दाज़ यही लगता है कि अकुत्सित समाजशास्त्र उन्हें पसन्द है । लेकिन आलोचना (नं० ४) में वह समाजशास्त्र और ऐतिहासिक भौतिकवाद में भेद करते हुए लिखते हैं, “प्रश्न है कि क्या प्रगतिवादी प्रगतिवाद को सचमुच प्रगतिवाद बनाने का दायित्व सँभालेंगे और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण त्याग कर ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनायेंगे ? क्या अज भी यह दुहराने की ज़रूरत है कि मार्क्सोंय सौन्दर्य-शास्त्र का दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय नहीं बल्कि ऐतिहासिक भौतिकवादी है ?”

मालूम होता है समाजशास्त्र तो समाज का शास्त्र है और ऐतिहासिक भौतिकवाद समाज का शास्त्र न होकर और किसी चीज का शास्त्र है । इसलिये यह मौलिक भेद किया गया है । अगर बात ऐसी है तो समाजशास्त्र को आधार बनाकर प्रगतिवाद ने शुरू से ही ग़लती की थी; कुछ लोगों ने उसे और भी कुत्सित बनाकर कोई मौलिक ग़लती नहीं की बल्कि उस पहली ग़लती को ही और भारी भरकम बना दिया । साहित्य की व्याख्या करते हुए चौहान कहाँ “समाजशास्त्र” का सहारा लेते हैं, कहाँ ऐतिहासिक भौतिकवाद का, यह कहना काफी कठिन है ।

शायद ऐतिहासिक भौतिकवाद समाजविज्ञान तो है, लेकिन समाजशास्त्र नहीं है । क्योंकि “साहित्य की परख” में उन्होंने लिखा है कि प्रगतिवाद की विचारधारा मार्क्सवादी दर्शन ‘द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद’ और “मार्क्सवादी समाजविज्ञान ‘ऐतिहासिक भौतिकवाद’ से प्रभावित है ।” इससे ऐतिहासिक भौतिकवाद के बारे में इतना तो मालूम हो जाता है कि वह समाजविज्ञान है, अवश्य हर तरह का समाज-विज्ञान नहीं, मार्क्सवादी समाज विज्ञान । तब क्या समाज-विज्ञान और समाजशास्त्र में कोई मौलिक भेद है ? या “शास्त्र” होने से ही एक रूढ़िवादी और “विज्ञान” होने से दूसरा प्रगतिशील है ?

लेकिन एक बात तो पक्की है कि हर साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील नहीं होता और उसके प्रतिक्रियावाद या प्रगतिशीलता को जाँचने के लिये यह देखना होता है कि वह अपने सामाजिक जीवन में उस समय की प्रगतिशील

शक्तियों का साथ देता है या प्रतिक्रियावादी शक्तियों का ।

(२)

देखना चाहिए कि वह कुत्सित समाजशास्त्र क्या है जिसने प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य को पथभ्रष्ट कर दिया ।

‘साहित्य की परख’ में चौहान ने कुत्सित समाजशास्त्रियों के द्वैतवादी दृष्टिकोण का यों उल्लेख किया है, “प्रगतिवादी समीक्षकों में साहित्य के ‘कलापत्न’ और ‘सामाजिक पत्न’ के संबन्ध में एक द्वैतभावना बनी हुई थी और वे इस बात का निर्णय न कर पाते थे कि किसी रचना में इन दोनों तत्वों का समावेश किस मात्रा और अनुपात में होता है, अथवा उनमें किस का आत्यंतिक महत्व है । इस विकृत यांत्रिकता का ही परिणाम था कि प्रगतिवादी आलोचना ने व्यवहारतः किसी रचना में व्यक्त विचारों को ही उस रचना के साहित्यिक मूल्य की कसौटी मान लिया और स्वयं कवि पंत ने भी—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,

वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलङ्कार ।

प्रश्न करके इस द्वैतभावना को अपनी एक कविता में उदात्त अभिव्यक्ति दे दी थी । ”

कुत्सित समाजशास्त्र के लिये कलापत्न और सामाजिक पत्न में भेद होता है । क्या चौहान साहित्य की विषयवस्तु और कला को एक ही चीज़ समझते हैं ? द्वैतभावना तभी मिट सकती है जब कला को हम विषयवस्तु समझें और विषयवस्तु को कला । इस तरह जीवन की घटनाएँ साहित्य में प्रतिबिंबित हुए बिना भी साहित्य हो जायेंगी और छंद, अलङ्कार, चित्रण-कौशल, शैली-सौंदर्य आदि विषयवस्तु के बिना ही हमें लोकोत्तर आनन्द देने लगेंगी ।

साहित्य की विषयवस्तु और उसकी कला दोनों एक चीज़ नहीं हैं । ये दोनों ही संबद्ध होकर साहित्य बनती हैं, दोनों की एकता साहित्य के लिये ज़रूरी है । लेकिन कला और विषयवस्तु दोनों ही समान रूप से साहित्य रचना के लिये निर्णायक महत्व की नहीं हैं । निर्याणक भूमिका हमेशा विषय वस्तु की होती है । जिसके पास उच्चकोटि के विचार नहीं हैं, भाववेश नहीं है, यथार्थ का गहरा ज्ञान नहीं है, वह सिर्फ कला को निखारने की कोशिश

करके उत्कृष्ट साहित्य नहीं रच सकता । जिसके पास ये चीज़ें हैं, उसके पास मूलवस्तु है, प्रयत्न करने पर वह उसे कलात्मक रूप दे देगा । वाल्मीकि ने जब कौञ्चवध से जुब्ब होकर “शोकः श्लोकत्वमागतः” का अनुभव व्यक्त किया था, तब उन्होंने शोक और श्लोक—विषय वस्तु और कला का सापेक्ष महत्व भी बतला दिया था । इसलिये प्रगतिशील आलोचना ने भी व्यञ्जना की अपेक्षा विचारों को ही अधिक महत्वपूर्ण समझा है और साहित्यकारों को मुख्यतः उन्हीं के अनुसार परखा है ।

दिलचस्प बात यह है कि पंतजी जब जन-मन तक अपने विचार पहुँचाने की बात कहते थे, तब वह चौहान के लिये कुत्सित समाजशास्त्रियों की श्रेणी में थे । जब वह “राजभवन हे राजभवन जन-मन के मोहन” का राग अलापने लगे, तब वह देशकाल की समस्याओं से परे रहने वाले चिर प्रगतिशील, चिर महान् कलाकार बन गये ।

आश्चर्य है कि द्वैत भावना जैसी घटिया चीज़ को, चौहान के अनुसार, पंतजी ने उदात्त अभिव्यक्ति दी । चौहान की आलोचना एक क्षण के लिये द्वैत भावना के वशीभूत होकर उदात्त अभिव्यक्ति और अनुदात्त विषयवस्तु में भेद करती हुई दिखाई देती है ।

चौहान ने आगे लिखा है, “गत वर्षों में जिन लोगों ने प्रगतिवाद की विचारधारा को सामयिकता और राजनीतिक-प्रचार की सीमा में बाँधकर साहित्य की कसौटी को अवसरवादी बनाने की चेष्टा की है, वह अनायास और अकारण ही नहीं । ये लोग वास्तव में उस द्वैत भावना से आक्रान्त हैं जिसका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ... ।”

द्वैत भावना का असली मतलब अब खुलता है । सवाल यह नहीं है कि विचारों और कलात्मक सौंदर्य में सामंजस्य हो; सवाल यह है कि ये विचार सामयिकता और राजनीतिक प्रचार की सीमाओं से परे हों या नहीं । चौहान के लिये कुत्सित समाजशास्त्र की मौलिक समस्या यह है कि लेखक सामयिक राजनीति से अलग रहे या उसे अपना कर चले ।

विश्व-साहित्य से कुत्सित समाजशास्त्र की मिसालें देते हुए चौहान ने लिखा है, “उदाहरण के लिये रूसी और बोल्शेविक नए अथवा आधुनिक काल

में ही गोकर्ण ने फ्रांस और रूस की क्रान्तियों के अवसर पर तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ कीं या आयरलैण्ड की क्रान्ति के अवसर पर शेली ने जो अपीलें छापकर बाँटी उनका आज कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा ।”

सामयिकता में फँसने का यह नतीजा होता है कि गोकर्ण, वोल्तेयर और शेली जैसे समर्थ कलाकार भी साहित्यिक मूल्य की चीजें न दे पाये । इसलिये रूस के मजदूर-आन्दोलन को लेकर गोकर्ण ने जो “माँ” नाम का उपन्यास लिखा, शेली ने यूनान, इटली, ब्रिटेन आदि के स्वाधीनता-आन्दोलनों और जन-संघर्षों पर जो रचनाएँ कीं, उनका कोई मूल्य नहीं रहा । चौहान के मुताबिक ये सब एक समय अवसरवादी कलाकार थे । वे सामयिकता से मुक्त न होकर उसी में फँस कर रह गये ।

चौहान का कुत्सित समाजशास्त्र-विरोध संसार के अनेक क्रान्तिकारी साहित्यकारों की विरासत का विरोध साबित होता है । एक तरफ तो वह गोकर्ण, शेली और वोल्तेयर की उस क्रान्तिकारी विरासत को ठुकराते हैं जो सामयिकता में डूबी हुई थी और जिसने इतिहास को बदलने में मानव-समाज को प्रेरणा दी । दूसरी तरफ वह ब्रिटेन के टी० एस० इलियट जैसे प्रतिक्रियावादी लेखकों का तटस्थतावाद अपनाकर सौन्दर्य शास्त्र को भरा-पूरा बनाने की कहते हैं । मार्क्सवाद को अपूर्ण कह कर, उसे भरा पूरा बनाने के नाम पर, वह आई० ए० रिचार्ड्स जैसे आलोचकों से समझौता करने का आदेश देते हैं ।

हिंदी की प्रगतिशील आलोचना आचार्य शुक्ल आदि की विरासत को अपने में समो कर ही आगे बढ़ सकती है, एक हद तक आगे बढ़ी है । लेकिन चौहान को एकाङ्गी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के दोषी मार्क्सवादी लेखक ही नहीं दिखाई देते, स्वयं शुक्लजी जैसे राष्ट्रीय विचारधारा से प्रेरित लेखक भी उससे पीड़ित दिखाई देते हैं । आलोचना (नं० ५) में वह लिखते हैं, “शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण से तो इतिहास नहीं लिखे गए लेकिन न्यूनाधिक मात्रा में एकाङ्गी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण आचार्य शुक्लजी से लेकर आज तक अपनाये जाते रहे हैं, चाहे ये समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रीय विचार-धारा से प्रेरित हों या मार्क्सवादी विचारधारा से ।”

इसका मतलब यह है कि अधिकांश हिन्दी आलोचकों ने पच्छिम के घटिया सिद्धान्त “कला कला के लिये” को नहीं अपनाया। उनके लिये कला और उपयोगिता के बीच कोई दुर्भेद्य खाई नहीं रही; वे साहित्य को सामाजिक विकास-क्रम से अलग करके नहीं बल्कि उसके साथ जोड़कर उसे देखते रहे हैं। यह कोई नहीं कह सकता कि वे कलापक्ष सौन्दर्य के विरोधी थे या उन्होंने साहित्य में विचारों को ही एक मात्र कसौटी बनाया था। फिर भी चौहान को उनका दृष्टिकोण एकाङ्गी समाजशास्त्रीय लगता है। क्यों? इस-लिये कि लोकमंगल की भावना को साहित्य की परख में उस हद तक कसौटी बनाना भी उन्हें पसन्द नहीं है, जिस हद तक शुक्लजी ने या दूसरे आलोचकों ने उसे बनाया था।

चौहान ने शुक्लजी आदि के साथ मार्क्सवादी आलोचकों को जोड़ कर जो दोनों के दृष्टिकोण को एकाङ्गी समाजशास्त्रीय कहा है, वह इस बात का प्रमाण है कि प्रगतिशील आलोचना अपनी परंपरा से नाता तोड़ कर कोई विदेश से आई हुई चीज नहीं है। वह आचार्य शुक्ल जैसे आलोचकों के साहित्य-सिद्धान्तों का मूल्याङ्कन करके, उन्हें विकसित करते हुए आगे बढ़ रही है।

चौहान को यह हास आलोचना ही में नहीं दिखाई देता। उनकी राय में यह हास चौतरफा व्याप गया है; समूचा साहित्य उसकी लपेट में आ गया है। ‘आलोचना’ (नं० ६) में वह लिखते हैं, ‘किन्तु रवीन्द्र, शरत्, इक-बाल और प्रेमचन्द की पीढ़ी समाप्त होते ही हमारे देश की विभिन्न भाषाओं और कलाओं में जैसे यह द्वितीय उत्थान भी समाप्त हो गया।’ “प्रगतिशीलों ने इस हास को रोकने की कोशिश की लेकिन वे स्वयं समस्या के ऊपरी रूप से ही परिचित थे, उसके वास्तविक रूप को पहचानने की अन्तर्दृष्टि उनमें उस समय न थी।”

चौहान की परेशानी हिन्दी भाषा तक सीमित नहीं है। वह भारत की सभी भाषाओं के साहित्य में हास के अंदेशों से दुबले हैं। इन भाषाओं के लेखक जनता के कंधे से कंधा मिला कर जो साहित्य रचते रहे हैं, वह चौहान की दृष्टि से ओभल है। आज हिंदी में अज्ञेय जैसे साम्राज्यवाद के दोस्तों का

यह प्रचार है कि साहित्य में प्रतिभाएँ हैं नहीं और जो हैं उन्हें मार्क्सवादी गुमराह कर रहे हैं। चौहान के लिये भी प्रेमचन्द के बाद सभी भाषाओं के साहित्य में हास शुरू हो गया और प्रगतिशील लेखक समस्या के ऊपरी रूप से ही परिचित थे।

चौहान आज की परिस्थितियों से निराश होकर लिखते हैं, “आज की प्रतिकूल परिस्थितियों में राष्ट्रीय सांस्कृतिक जीवन एक व्यंग्यपूर्ण हकीकत बन गया है, जिसमें उच्चकोटि का साहित्य और कला का फलना फूलना संभव नहीं दोखता।”

हमारे देश में सांस्कृतिक विकास के लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ कौन-सी हैं? एक तरफ आर्थिक-राजनीतिक कारण हैं, साम्राज्यवाद का अधिकतम मुनाफे वाला शोषण है, किसानों पर कर्ज, लगान और महँगाई का बोझ है, भुखमरी, बेकारी और लाठी-गोली का रामराज है। दूसरी तरफ सांस्कृतिक कारण हैं, साम्राज्यवादी-सामन्ती संस्कृति का दबाव है, जनता की निरक्षरता है। चौहान की “आलोचना” अगर प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ने के लिये है तो वह साम्राज्यवाद के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दबाव का पर्दाफाश क्यों नहीं करती? वह भारत में बढ़ते हुए युद्ध-प्रचार की तरफ तटस्थ क्यों है? वह साहित्य की उस धारा का विरोध क्यों नहीं करती जो देश में साम्राज्यवादी-सामन्ती हितों और उनके देशी सेवकों का समर्थन करती है? या प्रतिकूल परिस्थितियों में रचा हुआ आचार्य शुक्ल से अब तक का आलोचना-साहित्य, प्रेमचन्द के बाद सभी भाषाओं में लिखा हुआ अब तक का साहित्य नगण्य है!

चौहान के लिए अगर कुत्सित समाज शास्त्र का मतलब वह साहित्य है जो जन-हित को प्रतिबिम्बित करता है तो इसका यह मतलब नहीं कि कुत्सित समाजशास्त्र नाम की कोई चीज होती ही नहीं है। समाज और साहित्य के सम्बन्ध को सही तौर पर पेश न करना, साहित्य के लिये गलत सामाजिक उद्देश्य पेश करना, गलत सामाजिक पृष्ठ-भूमि में साहित्यकारों का मूल्यांकन करना, यह सब कुत्सित समाजशास्त्र की विशेषता है।

मिसाल के लिये हिन्दुस्तान में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता का

सवाल है। हमारे मित्र या तो समूचे साहित्य को प्रगतिशील मानेंगे या फिर प्रगतिवाद की यह व्याख्या करेंगे—“‘प्रगतिवाद’ साहित्य की वह धारा है जो पूँजीवाद के अन्तिम काल में उत्पन्न होती है, जो पूँजीवादी साहित्य और कला की सारी कामयाबियों और सजीव परम्पराओं को ग्रहण कर, एक नये जन-साहित्य का निर्माण करती है।”

अगर पच्छिम के देशों में प्रगतिशील कहलाने वाला साहित्य पूँजीवाद के अन्तिम काल में रचा गया हो तो वह व्याख्या भारत पर भी क्यों न लागू कर दी जाय ?

हाँ ! चौहान के इस वाक्य में प्रगतिवाद साहित्य की धारा है। यह “प्रगतिवाद” नाम की किताब के “प्रगतिवाद” नामक लेख का पहला ही वाक्य है। लेकिन “आलोचना” (नं० ४) में चौहान ने कुत्सित समाज-शास्त्रियों की भूल सुधारते हुए लिखा, “प्रगतिवाद साहित्य की धारा नहीं, साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण है।” प्रगतिवाद जब साहित्य की धारा होता है, तब उसमें दृष्टिकोण का अभाव होता है। जब वह दृष्टिकोण होता है तब वह साहित्य की धारा से तटस्थ रहता है। इसलिए कभी वह धारा, कभी दृष्टिकोण है, लेकिन दोनों से मिलजुल कर एक दिशा में बहती हुई धारा वह नहीं हो पाता।

एक दूसरे लेख में चौहान ने साम्यवादी यथार्थवाद के साहित्य ही को प्रगतिशील साहित्य माना है। साम्यवादी यथार्थवाद क्या है ? दृष्टिकोण है या धारा है। साम्यवादी यथार्थवाद “वर्तमान कालीन मजदूर, किसान और निम्नश्रेणी के दुष्टपुँजियों का साहित्य होता है, जिसमें ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक शोध द्वारा उनकी आन्तरिक एकता के दृढ़ करने की कोशिश की जाती है।”

इसमें सन्देह नहीं कि चौहान जैसे लोगों ने किसानों और मजदूरों का साहित्य चाहे न रचा हो, निम्न श्रेणी के दुष्टपुँजियों का साहित्य जरूर रचा है और इस काम में वह अकेले नहीं हैं।

और भी साम्यवादी यथार्थवाद “साहित्य की अन्य सभी धाराओं से वस्तु, रूप, प्रकाशन और सिद्धान्त में भिन्न है। यह सब का व्यतिरेक कर

स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होने का दावा करता है। यह एक युद्धात्मक, असहनशील, क्रान्तिकारी धारा है।”

संक्षेप में यह कि सांस्कृतिक विरासत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह हर चीज नयी गढ़ कर पेश करने में विश्वास करता है, अपने पैरों खड़ा होता है, असहनशील है और उसका क्रान्तिकारीपन उसकी असहनशीलता में ही है। लेकिन इन सब विशेषणों का सम्बन्ध सोवियत सङ्घ के समाजवादी यथार्थवाद से भी नहीं है जिसका रूप जातीय होता है, इसलिए एक हद तक परंपरागत भी होता है, और विषयवस्तु समाजवादी होती है। समाजवादी यथार्थवाद के प्रवर्तकों का यह भी कहना था कि हर जाति की कुछ अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ होती हैं जो उसके जीवन की विशेष परिस्थितियों से पैदा होती हैं। वे साहित्य में प्रतिबिम्बित होती हैं। चौहान की व्याख्या न सिर्फ भारतीय प्रगतिशील साहित्य के लिए ग़लत है, बल्कि वह सोवियत साहित्य के लिये भी ग़लत है जहाँ समाजवादी यथार्थवाद की धारा ने इस असहनशीलता, इस वस्तु-रूप-सिद्धान्त में एक दम नये होने का विरोध किया है। चौहान ने अपनी व्याख्या किसी कुत्सित समाजशास्त्री से उधार लेकर उसे सोवियत और भारत के साहित्य पर एक साथ फिट कर दिया है।

लेकिन चौहान यह भी कहते हैं कि यह धारा पुरानी संस्कृति के समस्त रचनात्मक और प्रगतिशील तत्वों को ग्रहणकर उन्हें नये सिरे से नये ढाँचों में ढालकर उनकी रक्षा करती है। मिसाल के लिये हिन्दी में छायावादी साहित्य को लीजिये। जिस लेख में चौहान ने रचनात्मक तत्वों की रक्षा की बात की है, उसी में वह छायावाद के बारे में कहते हैं, “रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बाद यह धारा हिन्दी में सर्वश्री जयशङ्कर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’ सुमित्रानन्दन पन्त, श्रीमती महादेवी वर्मा और अनेकों छोटे-मोटे कवियों के मुख से निस्तृत हो उठी। और आज इसका कोई ठिकाना नहीं। इनमें से कुछ-स्वभावतः प्रगतिशील भी हैं; लेकिन उनकी कविताएँ प्रगतिशील न होकर प्रतिक्रियावादी होती हैं। इस छायावाद की धारा ने हिन्दी के साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया है, उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने पहुँचाया हो।”

चौहान का साम्यवादी यथार्थवाद पुरानी संस्कृति के रचनात्मक तत्वों को रक्षा इस तरह करता है। साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है और छायावादियों में भी कुछ तो स्वभावतः प्रगतिशील थे ही, लेकिन उनकी भी कविताएँ प्रगतिशील न होकर प्रतिक्रियावादी होती हैं। यानी लगाया गुलाब लेकिन उगा कुकुरमुत्ता। और अगर प्रगतिशील कवियों की रचनाएँ प्रतिक्रियावादी हो सकती हैं तो प्रतिक्रियावादी कवियों की रचनाओं को चौहान प्रगतिशील कहें तो किसी को कोई ऐतराज क्यों हो ?

जो राष्ट्रीय धारा के कवि हैं, चौहान उनसे और भी परेशान हैं। “भारत भारती” के लिये लिखा है, “भारत की प्रगति और सम्यता के दुश्मन फैसिस्ट नेता डा० मुंजे और भाई परमानन्द के लिये पुस्तक हिटलर की तरह मुसलमानों को देश से निकाल बाहर करने में शायद वाइबिल बन पाती; लेकिन अब तो उसकी भी उम्मीद न रही।

चौहान ने यह सब सन् '३७ में (विशाल भारत, मार्च '३७; “भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता”) लिखा था जब “प्रगतिवादी आलोचना ने अपने प्रारम्भिक काल में हमारे साहित्यकारों को नई दृष्टि दी और उन्हें अपने सामाजिक कर्तव्यों के प्रति जागरूक किया था” (आलोचना, नं० १)। उस प्रारम्भिक काल में चौहान उस साहित्य की माँग कर रहे थे जो “एक साम्यवादी प्रकृति, साम्यवादी वातावरण, साम्यवादी दृष्टिकोण, साम्यवादी पारस्परिक संबंध, साम्यवादी समाज और साम्यवादी जीवन क्या है, का भी प्रचार करता है।”

चौहान ने इतनी बार साम्यवादी शब्द की रट तो छोड़ दी है लेकिन समाजवादी क्रांति का नारा, समाजवादी यथार्थवाद का नारा बहुत दिन तक उनके साथ रहा है।

“संस्कृति, साहित्य और विद्यार्थी” नाम के निबन्ध में चौहान ने विद्यार्थियों को यह दावत दी थी कि “हम पूँजीवाद का अन्त करने और साम्यवाद कायम करने के लिये अभी से संगठित प्रयत्न करें।” (“साहित्य की परख” पृष्ठ ५५; यह निबन्ध सोवियत जर्मन युद्ध से पहले का है)।

“साहित्य की परख” में जहाँ उन्होंने विश्व कुत्सित समाज शास्त्र पर हल्ला

बोला है, चौहान ने अलङ्कार शास्त्र का सहारा लेते हुए कहा है, “अलङ्कारिण भाषा में हम कह सकते हैं कि आर्थिक शोषण और साम्राज्यवाद को गिराकर जो जनवादी समाज निर्मित होगा उसके समाजवादी आर्थिक सम्बन्ध उस पीठिका का कार्य करेंगे जिस पर नये मानव की मूर्ति का संस्थापन किया जायगा ।”

चौहान के इस प्रचार का असर यह हुआ है कि हिन्दी के कुछ लेखक यह समझने लगे हैं कि प्रगतिवाद के माने मार्क्सवाद, मार्क्सवाद के माने समूचा भारतीय साहित्य शून्य बराबर और नया साहित्य तब रचा जायगा जब समाजवादी आर्थिक सम्बन्धों की पीठिका पर नये मानव की मूर्ति स्थापित की जायगी । इस तरह की धारणाओं का मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है, हाँ एक आदमी और उसके नाम से चलने वाली विचारधारा से उसका संबंध अवश्य है । उस आदमी का नाम था त्रात्स्की, उसकी विचारधारा का नाम है त्रात्स्कीवाद ।

त्रात्स्की मजदूर वर्ग की सांस्कृतिक विरासत का घोर शत्रु था । उसके लिये मजदूर वर्ग का न तो पिछला कोई साहित्य था, न समाजवाद के लिये संघर्ष करते हुए वह कोई साहित्य रच सकता था । विश्व समाजवादी क्रांति का ढोल पीटने वाला त्रात्स्की समाजवादी निर्माण और सोवियत साहित्य का कट्टर शत्रु था ।

यह स्वाभाविक है कि जो लोग विश्व-क्रान्ति की लम्बी-चौड़ी बातों से जनता को भ्रमाते हैं, वे जनता के उस तात्कालिक कार्यक्रम का बराबर विरोध करते हैं जो उसकी प्रगति के लिए आवश्यक है । चौहान समाजवादी क्रांति और साम्यवादी यथार्थवाद का तो समर्थन करते हैं लेकिन स्वाधीनता, शांति और जनतंत्र के उद्देश्य को प्रगतिशील साहित्य के लिए अवांछित समझते हैं । इन उद्देश्यों को सामने रखना अवसरवाद, संकीर्णतावाद, कुत्सित समाज शास्त्र और क्या-क्या नहीं है !

“आलोचना” (नं० ४) में वह कहते हैं, “प्रगतिशील साहित्य स्वाधीनता, शान्ति और जनतन्त्र का साहित्य है ।”.....प्रगतिशील साहित्य देश से साम्राज्यवाद, सामन्तवाद की संस्कृति को निकालने के लिए संघर्ष करता

है ।' आदि स्थापनाओं से स्पष्ट है कि लेखक ने प्रगतिशील साहित्य का अर्थ अपनी नई परिभाषा में संकुचित करके उसे हमारे देशकाल की विशिष्ट साम-
यिक परिस्थितियों से ही नहीं बल्कि एक विशेष राजनीतिक पार्टी और प्रोग्राम
के साथ भी बाँध दिया है ।''

विश्वक्रान्ति की तरह चिरंतन प्रगतिशीलता की रक्षा करने की उत्सुकता
में चौहान देशकाल की परिस्थितियों से, किसी निश्चित प्रोग्राम से बँधना
पसंद नहीं करते । समाजवादी क्रान्ति का कार्यक्रम उन्हें पसंद है क्योंकि आज
उसके लागू होने का सवाल नहीं है, यानी वह प्रोग्रामहीनता के बराबर है ।
और शांति और स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने का प्रोग्राम एक पार्टी विशेष
का हो जाता है, इसलिए वह साहित्य के दायरे को संकीर्ण कर देता है जबकि
समाजवादी क्रान्ति का प्रोग्राम किसी भी पार्टी का प्रोग्राम न होने की वजह
से साहित्य के दायरे को विश्व के समान विराट् कर देता है । चौहान जैसे
सांस्कृतिक विरासत से कटे हुए हैं, वैसे ही देश की अमली राजनीति से भी ।

सन् ५१ को "नई चेतना" (नं० ४) में चौहान स्वाधीनता के सवाल
पर तो तटस्थ रहने की बात करते हैं—“इसलिए अगर कोई कहे कि हम
आजाद हो गए या कहे कि नहीं, अभी हम गुलाम हैं तो हमें इन बहसों में
पड़ने से गरज नहीं है”—लेकिन समाज और साहित्य के लक्ष्य के बारे में वह
कहते हैं —“मानव पर मानव का शोषण समाप्त करके न्याय, समानता, प्रेम
और मुक्त सहयोग पर आधारित एक सच्चे वर्ग मुक्त, शोषण मुक्त, अज्ञान
मुक्त मानव समाज का निर्माण ही इस अविराम संघर्ष की मूल प्रेरणा और
इसका लक्ष्य और प्रयोजन है, जो इतिहास को गति प्रदान करता है ।”

मतलब यह कि हर तरह की मुक्ति की बात हम सुनने के लिए तैयार हैं
जब तक साम्राज्यवाद से मुक्ति की बात न कही जाय ।

साहित्य में अगर जनतंत्र के समर्थन का उद्देश्य रखा जाय तो वह सङ्कीर्ण-
तावाद है, अगर समाजवादी यथार्थवाद का उद्देश्य रखा जाय तो ठीक है ।
“नई चेतना” के उसी लेख में चौहान ने कुत्सित समाजशास्त्रियों पर यह
आरोप लगाया है कि “समाजवादी विषयवस्तु और राष्ट्रीय रूपविधान इस

माक्सवादी सिद्धान्त को उलट कर ये साथी ऐसी रचनाएं करते रहे ।” अगर “ये साथी” अपने साहित्य में समाजवादी विषयवस्तु नहीं देते रहे तो इस पर इतना कोप क्यों ? समाजवादी विषयवस्तु की माँग करना कुत्सित समाजशास्त्र है या उसके बदले जनवादी विषयवस्तु की माँग करना ?

कुत्सित, समाजशास्त्र का खतरा गोर्की, शेली और वोल्टेयर के लिए तब नहीं पैदा होता जब वे फ्रांस या रूस की राज्यक्रान्ति के समर्थन में या तात्कालिक प्रश्नों को लेकर साहित्य रचते हैं । कुत्सित समाजशास्त्र का खतरा तब पैदा होता है जब हम भारतीय समाज के विकास की मंजिलें भूल कर ग़लत सामाजिक उद्देश्य अपने सामने रखते हैं । इसलिए आज की परिस्थिति में साहित्य के सामने शान्ति, स्वाधीनता और जनतंत्र के लिए संघर्ष करने का उद्देश्य रखना उचित है ।

(३)

“क्या साहित्य प्रोपैगैण्डा है ?” नाम के निबंध में चौहान ने रूस के कुत्सित समाजशास्त्र की मिसाल देते हुए कहा है, “रूस की क्रांति के अवसर पर यह नारा लगाया गया कि ‘साहित्य वर्ग-युद्ध का एक हथियार है ।’ यह एक ग़लत नारा था । किन्हीं खास परिस्थितियों में कोई नारा किस प्रकार उठाना चाहिए यह साधारण कार्य नहीं है क्योंकि उन परिस्थितियों की तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुकूल कार्यसंगठन करने के उद्देश्य से जन-समूह को प्रेरित करने के लिए ही केवल नारा नहीं लगाया जाता । ऐसा नारा तात्कालिक आवश्यकताओं से इतना आबद्ध रहेगा कि परिस्थितियों के बदलने पर वह एकदम बेकार हो जायगा और कदाचित् नयी परिस्थितियों के विपरीत पड़कर यह उनके विकास में बाधक हो उठे ।”

यहाँ फिर वही तात्कालिक आवश्यकताओं से बचने की परेशानी है । नारा ऐसा होना चाहिए जो सभी युगों की परिस्थितियों पर लागू हो ।

रूसी क्रांति के अवसर पर जो ग़लत नारा दिया गया, उसका नतीजा क्या हुआ ? नतीजा यह हुआ कि “इस नारे को मान्य मानकर प्रत्येक लेखक के लिए यह जरूरी हो गया कि वह केवल पूंजीपति और मजदूर, श्वेतसेना या

लाल सेना, जारशाही और बॉल्शेविक पार्टी, कुलक और किसान के संघर्षों का, शोषित वर्गों की विजय कामना प्रकट करते हुए, ज्यों-का-त्यों तथा सीधा राजनैतिक वर्णन ही करे ।”

यह बात लोगों को मालूम है कि सोवियत क्रान्ति के बाद कुछ मार्क्सवाद-विरोधी लेखकों ने — सभी सोवियत लेखकों ने नहीं—सांस्कृतिक विरासत को ठुकराया और ऐसा साहित्य रचने लगे जो कहने को सर्वहारा साहित्य था लेकिन वास्तव में जो मजदूर वर्ग के संघर्ष से तटस्थ रहता था, उसका विरोध करता था । ये थे प्रोलेतकुलतवादी । हिन्दी में चौहान और धर्मवीर भारती जैसे लेखकों ने रूसी साहित्य का हवाला देकर अपने गलत रुझान को सही कह कर पेश करने की कोशिश की है ।

रूसी क्रान्ति के लिये बोल्शेविक पार्टी के नेताओं ने कौन सा नारा दिया था ! लेनिन ने अपने प्रसिद्ध लेख “पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य” में पार्टी-साहित्य की माँग करते हुए लिखा था, “साहित्य के लिए यह जरूरी है कि यह समूचे सर्वहारा उद्देश्य का अङ्ग बन जाय ।”

चौहान को चाहिये कि खुल कर लेनिन के लेख “पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य” का हवाला देते हुए उस पर अपनी राय दें । रूसी क्रान्ति के अवसर पर यह नारा दिया गया, वह नारा दिया गया, इस तरह छिपकर तीर चलाने से क्या फायदा ।

१९०५ की रूसी क्रान्ति के बाद जब बहुत से “निम्न श्रेणी के दुष्टपुँ-जिया” साहित्य में कार्यक्रम, तरफदारी, वर्ग-संघर्ष का विरोध करने लगे तब स्तालिन ने इनका हुलिया बयान करते हुए कहा था, “वर्ग-विरोधों को नजरंदाज करना, वर्ग-संघर्ष को अस्वीकार करना, स्पष्ट रूपरेखा का अभाव, कार्यक्रम का विरोध, हितों को उलझाने और अराजकता के लिये कोशिश — यह है गैरजानिबदारी ।” (देखिये, सोवियत साहित्य, १९५०, नं० १२) ।

चौहान मिलाकर देखें, स्तालिन ने गैरजानिबदारों का जो हुलिया बयान किया है, उनसे कहीं मिलता-जुलता है या नहीं । इस गैरजानिबदारी का खंडन करते हुए, साहित्य में कार्यक्रम की जरूरत बताते हुए स्तालिन ने लिखा था, “गैरजानिबदारी का स्वाँग मुर्दावाद । राजनीतिक लाइन की स्पष्टता और

निश्चितता जिंदाबाद । यह है हमारा नारा ।”

चौहान को चाहिये कि स्तालिन के उद्धरण देकर कहे कि वह इस जानिबदारी के उसूल का विरोध करते हैं, कि उन्हें साहित्य में किसी परिस्थितिजन्य कार्यक्रम का होना उसी तरह अमान्य है जिस तरह वह रूस के प्रोलेतकुल्टवादियों और दूसरे लेखकों को था ।

चौहान के लिए वह सौन्दर्य-मूलक प्रवृत्ति कौन सी वस्तु है जिसका जिक्र उन्होंने “साहित्य की परख” में किया था । वह ‘कला कला के लिये’ पूँजीवादी सिद्धान्त के अलावा और कुछ नहीं है । क्या चौहान यह मानते हैं कि समाज का हरवर्ग साहित्य के प्रति अपना एक कलात्मक दृष्टिकोण भी रखता है ! क्या वह इस भौतिकवादी उसूल को मानते हैं कि “हर वर्ग-समाज के अपने राजनीतिक और कलात्मक मान दण्ड होते हैं जैसे कि किसी भी वर्ग समाज के विभिन्न वर्गों के अलग-अलग मानदंड होते हैं ।” (माथ्रो जेडुङ्)

तात्कालिक प्रश्नों से साहित्य को बचा कर, परिस्थितिजन्य उसूलों का विरोध करके चौहान ने सभी समाजों और सभी वर्गों के लिये जो शाश्वत प्रगतिशीलता की सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति खोज निकालने की कोशिश की है, वह न तो आज की परिस्थितियों से परे है, न वर्गों से परे है । रूसी क्रांति के बाद लिखे हुए साहित्य का गलत हवाला देकर चौहान ने अपने पूँजीवादी कला-सिद्धान्त को उसी तरह बचाना चाहा है जैसे रूस में प्रोलेतकुल्टवादी उसे बचाने की कोशिश कर चुके थे ।

जो लेखक साहित्य को जनता के क्रांतिकारी कार्यक्रम के बाहर रखते हैं, उनके लिये माथ्रो जे डुङ् ने ठीक लिखा है, “इस उसूल से हटने का लाजमी नतीजा होता है, दुविधा और कई नावों पर चढ़ना और अन्त में ऐसे मत जैसे कि त्रात्स्की ने प्रचारित किये थे । मार्क्सवादी राजनीति लेकिन पूँजीवादी कला ।”

क्या चौहान मार्क्सवादी और पूँजीवादी राजनीति के साथ मार्क्सवादी और पूँजीवादी कला में भी भेद मानते हैं । उनकी आलोचना में परिस्थितियों और वर्गों से परे शाश्वत सौंदर्य की खोज से तो यह साबित नहीं होता । यह स्वाभाविक है कि पूँजीवादी कला-सिद्धान्त के उपासक चौहान को जहाँ

छायावाद महासभाई प्रचार और प्रेमचन्द के बाद तमाम भारतीय भाषाओं में हास दिखाई देता है, वहाँ उत्कृष्ट कला की कृतियाँ उन्हें अज्ञेय, जैनेन्द्र और अशक जैसे लेखकों में मिलती हैं। पूंजीवादी कला-सिद्धान्त की उपासना और उस सिद्धान्त के असर से रचे हुए साहित्य की प्रशंसा—यह है चौहान का प्रगतिवाद।

“प्रगतिवादः एक समीक्षा” में धर्मवीर भारती ने प्रगतिशील आलोचकों पर वही आरोप किये हैं जो चौहान ने इस किताब के पहले और बाद को किये थे। भारती का कहना है, “स्वयं प्रगतिवादियों ने भी सिवा तीखी, अवसरवादी आलोचनाओं और दलबन्दी तथा गालीगलौज के, अभी तक गंभीरता और शान्ति से समस्याओं का विश्लेषण उदारता, समझदारी और दूरदर्शिता का परिचय नहीं दिया है।”

चौहान को तरह भारती को भुँझलाहट सिर्फ हिन्दी के प्रगतिवादियों पर नहीं है, उनकी राय में विश्वसाहित्य में मार्क्सवाद एक प्रतिक्रियावादी शक्ति साबित हो चुका है। मार्क्सवाद ने ऐसी संकीर्णता दिखाई कि “जिस प्रगतिवादी आन्दोलन में एक दिन यह गोर्की, रोलाँ तक सम्मिलित थे, जिसको अर्न्स्ट टालर और रैल्फ फाक्स जैसे शहीदों ने अपने खून से सींचा था [भारती को चौहान की तरह मार्क्सवादियों से कितनी हमदर्दी है !] आज स्टीफेन स्पेंडर और आडेन की तो बात दूर मलराक्स (Malraux) जैसे कट्टर कम्युनिस्ट भी अपने को उसकी संकीर्णता से संतुलित नहीं कर पाते।”

भारती ने यह नहीं बताया कि प्रगतिवाद जिनके लिये इतना संकीर्ण हो गया, वे स्पेंडर और आडेन आजकल करते क्या हैं ? पिछले दिनों बबई में जब अमरीकी साम्राज्यवादियों के इशारे पर संस्कृति-सम्मेलन हुआ, तो उसके अलम्बरदारों में ये सज्जन भी थे (भारती के धर्मगुरु सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन भी वहाँ विद्यमान थे, बल्कि उसके एक कर्णधार थे !)।

भारती के अनुसार स्पेंडर और आडेन के प्रगतिवाद छोड़ने के पहले ही रूस में वह संकीर्ण हो गया था। मायकोव्स्की में “नारेबाजी काफी मात्रा में थी” (पृ० २७)। इसलिये भारती को हिन्दी कविता में नारीबाजी काफी से

भी ज्यादा मात्रा में मिले तो क्या आश्चर्य ! मायकोव्स्की सोवियत समाज का सबसे लोकप्रिय कवि था । यह बात भारती को मालूम है । उसकी लोकप्रियता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं--“सहज और सरल भाषा थी, चुटीली अभिव्यंजना थी और अनुभूति का एक छिछुलापन था जिसने उसे इतना जन-प्रिय बना दिया था ।”

यह बात भारती की समझ से परे है कि जन-प्रियता और छिछुलापन पर्यायवाची शब्द नहीं हैं । कला के प्रति पूँजीवादी दृष्टिकोण गहराई नहीं देखता है जहाँ फ़ीरोज़ी ओठों पर ज़िन्दगी बर्बाद होती हो या मार्क्सवाद कोसा गया हो ।

भारती के अनुसार सोवियत संघ में प्रोलेतकुल्लवादियों ने जो परम्परा को ठुकराया और कुत्सित समाजशास्त्र का प्रचार किया, उसका कारण स्तालिन की शङ्कित मनोवृत्ति थी कि समाजवादी शासन नष्ट न कर दिया जाय और इससे संकीर्ण मार्क्सवादियों ने लाभ उठाया । लेकिन बाद को स्तालिन ने स्थिति संभाल ली और “अब तो ऐसा लगता है जैसे ज़ार के रूस और स्तालिन के रूस का ऐतिहासिक और परम्परात्मक भेद समाप्त हो गया ।” भारती का कला-सिद्धान्त ही पूँजीवादी नहीं है, उसकी राजनीति भी पूँजीवादी है । सोवियत जीवन का वस्तुगत चित्र दिखाने के बहाने वह घटिया साम्राज्यवादी प्रचारकों की तरह सोवियत देश की सर्वहारा-अन्तराष्ट्रीयता को ज़ारशाही रूस के साम्राज्यवाद से एक कर देते हैं । और इस नये रूस में (या नयापन खोकर फिर पुरानी राह पर चलने वाले रूस में) मानो मार्क्सवाद को ठुकरा कर साहित्य रचा जाने लगा—“और सभी तरह के वर्गवाद से ऊपर उठकर अब वे व्यापक सत्य के उस स्तर पर पहुँच गये हैं जहाँ युग-युग का साहित्य लिखा जा सकता है ।”

यानी लेनिन स्तालिन-माओ का वर्ग-साहित्य वाला सिद्धान्त वहाँ लागू नहीं होता, वहाँ चौहान का सामयिकता से तटस्थ, युग-युग में अपरिवर्तनशील सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति वाला उसूल लागू होता है । इसलिये अब रूसी साहित्य “देश और काल की सीमा में बँध कर ही नहीं रह गया” वह “धूम , फिर

कर फिर इसी सिद्धान्त पर आ गया कि कला युग-युगों की एक स्थायी चीज है ।” (पृ० ६४)

भारती को रूसी क्रान्ति साहित्य के लिये वैसे ही खतरनाक दिखाई देता है जैसे चौहान को । क्योंकि “उस समय क्रान्ति के नकारों में बुद्धि और संतुलन की आवाज दब गई थी, भावना ने अपने मिसरी जैसे सूखे और प्यासे होठों से जिन्दगी को और गहराई से सोचने की सलाह दी थी, लेकिन फौजी बूटों से वह आवाज कुचल दी गई ।” (पृ० ८८)

भारती के लिए क्रान्तिकारी साहित्य का खलनायक मायकोव्स्की है । “वह प्राचीन साहित्य, मधुर साहित्य, प्रेमकाव्य सभी के विरुद्ध था ।” (पृ० ८६) । नतीजा यह कि रूस में “प्रेम का गङ्गा घोट दिया गया था ।” ठीक वैसे ही जैसे चौहान के लिये अली सद्दार् वगैरह ने प्रेम की कोमल भावनाओं को कुचल दिया है । (देखिए हंस में “मौत और दोशोजा” नाम की गोरकी की रचना पर चौहान की टिप्पणी)

चौहान के लिये जिस तरह हिन्दी के प्रगतिशील लेखक ही कुत्सित समाजशास्त्री नहीं हैं, बल्कि शुक्लजी से वह परम्परा चली आ रही है, उसी तरह भारती के लिए मायकोव्स्की ने “मार्क्सवाद की एक यान्त्रिक व्याख्या करली थी, उस यान्त्रिकता में पूर्णतया ढल जाने का निश्चय कर लिया था ।” (पृ० ९६) ।

भारती जैसे लोग मार्क्सवाद, सोवियत साहित्य, प्रगतिवाद वगैरह से हमदर्दों का अभिनय भर करते हैं । उनकी हमदर्दी दरअसल किन्हीं और से है । अभिनय अपने विरोध को छिपाने भर के लिये है । वह बड़े ईमानदारी के स्वर में कहते हैं — “धीरे-धीरे स्टालिन ने अपनी गलती महसूस की” । मानों प्रोलेतकुल्लवादियों के मार्क्सवाद-विरोध के लिए स्टालिन जिम्मेदार रहे हों !

और अन्त में भारती ने हिन्दुस्तान की गरीब जनता की पार्टी के बारे में उसी झूठ का प्रचार किया है जिसका प्रचार तमाम साम्राज्यवादी दुनिया की हर कम्युनिस्ट पार्टी के खिलाफ किया करते हैं — “भारत की कम्युनिस्ट पार्टी भारत के लिए नहीं है और चाहे जिसके लिए हो” ।

संकीर्णतावाद का विरोध करने के नाम पर मायकोव्स्की, सोवियत समाज

हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी सभी घसीट लिये गये। लेकिन पिछले दिनों साहित्य में संयुक्त मोर्चा बनाने के सिलसिले में भारती संकीर्णतावाद विरोधी प्रगतिशील लेखक की हैसियत से सामने आगये और संकीर्णतावाद का पहले से ही विरोध करते रहने के कारण और भी यशस्वी रूप में आए। नतीजा यह हुआ कि उनके साथ वे संयुक्त मोर्चे के पत्र भी अस्त हो गये। कोई आश्चर्य नहीं कि भारती की कला का मूल्य पहचानने वाला हिन्दी में सिर्फ एक लेखक मिलता है—शिवदानसिंह चौहान। लेकिन अफसोस, प्रगतिशील लेखकों में उनके सिद्धान्तों का मान नहीं है! “सिवा शिवदान चौहान के किसी ने भी कलात्मकता का मूल्य नहीं पहचाना है और चौहान जी के विचारों को भी समुचित महत्व उस क्षेत्र में नहीं मिल रहा है।” इसलिए उनके विचारों को समुचित महत्व देने के लिए भारती ने “प्रगतिवाद” में मार्क्सवाद को पानी पी पी कर कोसा है।

भारती और चौहान एक ही रथ के दो पहिए हैं। ये पहिए अपनी घरघराहट को सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति, मानववाद वगैरह नाम देते हैं लेकिन वह घरघराहट है पहचानी हुई—मार्क्सवाद के खिलाफ हर देश के पूंजीवादी लेखकों की चीख-पुकार। उस रथ के ऊपर जो भंडा फहराता है वह वही चिर परिचित कला कला के लिए वाला भंडा है।

साहित्य की परम्परा

(१)

प्रगतिशील साहित्य जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य है, इसलिए वह उसकी जातीय विरासत, उसकी साहित्यिक परंपराओं की रक्षा करने के लिए भी लड़ता है। साम्राज्यवाद न सिर्फ जनता की स्वाधीनता का अपहरण करता है, उसके जनवादी अधिकारों को कुचलता है बल्कि उसकी जातीय संस्कृति, उसके राष्ट्रीय अभिमान, उसके पूर्व पुरुषों के अर्जित ज्ञान को भी झुठलाता और दबाता है। इसलिए जनता की जातीय संस्कृति और रक्षा के विकास के लिए संघर्ष उनकी स्वाधीनता और जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष का अभिन्न अंग है।

हिन्दीभाषी जनता की एक प्राचीन और गौरवशाली परंपरा है। इस परंपरा पर अभिमान करने में एक तरफ तो भारतीय रूढ़िवाद बाधक होता है जो हर सांस्कृतिक निधि का उपयोग महान्तों और जागीरदारों के हित में करना चाहता है। उस सांस्कृतिक निधि के निर्माण में भारत की जनता का कितना हाथ है, इस बात को वह छिपाता है। दूसरी तरफ पच्छिमी पूँजीवाद का नस्ल-सिद्धान्त है जिसके अनुसार वह निधि हमारे पूर्वजों की रचना नहीं, किसी विश्वव्यापी नस्ल की रचना है जिस पर औरों का अधिकार भले हो, हमारा अधिकार अवश्य नहीं है।

हिन्दी में कुछ विचारकों ने जातीय संस्कृति के निर्माण के पेचीदा काम को बहुत आसान बनाकर भारतीय संस्कृति को आर्य और द्रविड़ में बाँट दिया है। उनमें कुछ विद्वान अपने धार्मिक उत्साह के कारण यह देख ही नहीं पाते कि जातीय संस्कृति का निर्माण करने वाले भले ही किसी धर्म को माननेवाले रहे हों लेकिन इससे जातीय संस्कृति धर्म का पर्याय नहीं हो जाती। जैसे ब्रिटिश संस्कृति के निर्माता ज्यादातर ईसाई रहे हैं लेकिन इससे ब्रिटिश

संस्कृति ईसाई धर्म का पर्याय नहीं हो जाती ।

“वोल्गा से गंगा” की “प्रभा” कहानी में राहुल जी रघुवंश और कुमार-संभव को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की प्रशस्तियाँ कह कर टाल देते हैं । “सुपर्ण यौधेय” में कालिदास को गुप्त सम्राटों का चाटुकार कवि दिखलाया गया है । उसके मुकाबले में बौद्ध कवि “अश्वघोष महापुरुष और महाकवि दोनों थे” ।

कालिदास के साथ बाल्मीकि को भी सम्राटों का चाटुकार कल्पित करते हुए राहुलजी “सुपर्ण यौधेय” में लिखते हैं, “कोई ताज्जुब नहीं, यदि वाल्मीकि शुङ्गवंश के आश्रित कवि रहे हों, जैसे कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के, और शुङ्गवंश की राजधानी की महिमा को बढ़ाने ही के लिए उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदलकर साकेत या अयोध्या करदी और राम के रूप में शुङ्गसम्राट पुष्यमित्र या अग्निमित्र को प्रशंसा की—वैसे ही, जैसे कालिदास ने ‘रघुवंश’ के रघु और ‘कुमार संभव’ के कुमार के नाम से पिता-पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त की ।”

यह भी एक समाजशास्त्र है । राम शुंग सम्राट् के प्रतीक हैं और कुमार संभव के कुमार सम्राट् कुमारगुप्त के । राहुल जी को चाहिये कि वह यह भी बता दें कि दशरथ, कौशल्या, सीता, लक्ष्मण, भरत आदि सम्राट् के खानदान में किस-किस व्यक्ति के प्रतीक हैं । और शुंग सम्राट् जैसे सामंती शोषक के गुण राम में चित्रित हुए हैं तो रावण में उसके विरोधी क्या किसी गणराज्य के जननायक का चित्रण किया गया है ? इसी तरह कालिदास के यक्ष, तन्वी श्यामा शिखरिदशना, शकुन्तला, गौतमी, कुमारसंभव की नीलालक-मध्यशोभी उमा, विकीर्णमूर्धजा विलाप करती हुई रति किस-किस के प्रतीक हैं, यह बता देते तो सांस्कृतिक इतिहास लिखने में आसानो रहती ।

राहुल जी की कल्पना में यह बात नहीं आती कि जिस राम को जनता ने अपना ‘हीरो’ बना लिया, उसके गुण जनता के गुण भी हो सकते हैं । रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों में जिन वीरनायकों के चरित्र वर्णित हैं, उनकी लोकप्रियता, उनके सामंती ऐश्वर्य के कारण नहीं है । ये महाकाव्य आज भी हमारी जनता को प्रिय हैं, इसलिए कि उनमें हमारे पूर्वजों के अनेक

ऐसे गुणों का वर्णन है जिन्हें हमारी जनता प्यार करती है ।

और कालिदास का सौन्दर्य उज्जयिनी और क्षिप्रा के सौन्दर्य से भी संबंधित है, वह सौन्दर्य सामन्तकाल में भारतीय जन-जीवन से ही पैदा हुआ यह वह नहीं सोच पाते । उसके बिना पार्वती का सौन्दर्य, शकुन्तला नाटक के चौथे अङ्क की करुणा, यक्ष की विरह-वेदना भी कल्पनानीत हैं ।

“सिंह सेनापति” का नायक कहता है—“क्योंकि अष्टक, वामक, वामदेव, यमदग्नि, भृगु, वशिष्ठ, अंगिरा, विश्वामित्र, भरद्वाज आदि ने जो तीनों वेद बनाये, वही ब्राह्मण क्षत्रिय के भेद को स्थापित करने में प्रधान कारण हुए ।”

इस समस्या को थोड़ी देर के लिये हम छोड़ देते हैं कि वेदों ने वर्ण-व्यवस्था कायम की या नहीं । मान लीजिये कायम की तो ऐतिहासिक विकासक्रम में वह प्रगतिशील थी या नहीं ? निःसन्देह आदिम साम्यवाद के मुकाबले में व्यक्तिगत सम्पत्ति का विकास और वर्ण-व्यवस्था प्रगतिशील थी । लेकिन राहुल जी इसके लिये वेद के रचयिताओं को क्षमा नहीं कर सकते ।

राहुलपथानुगामी श्री रांगेय राघव ने कहीं यह वाक्य पढ़ा कि “ऋग्वेद के कवि ऋषियों से लेकर ‘प्रसाद’ और ‘निराला’ तक हमारी जाति की गौरव-युगी काव्य-परंपरा रही है ।” इस पर क्रुद्ध होकर उन्होंने लिखा—“वे नहीं जानते कि गंगा-यमुना के प्रदेश में ऋग्वेद के कवि बहुत बाद में आये थे और उस गौरव में आर्य दंभ ही था जिसने वर्ण-व्यवस्था का मूल स्वर उठाया था ।” (“आलोचना” नं० ५) ।

इस तरह पच्छिमी संस्कृति के आधुनिक नस्ल-सिद्धांत को वैदिक काल में लागू करके रांगेय राघव ने वेद रचयिताओं को उसी दोष का भागी बनाया है, जिस दोष का भागी हिटलर था । और उनके द्वारा वर्ण-व्यवस्था का कल्पित या वास्तविक समर्थन उस जातीय काव्य-परंपरा पर आक्रमण करने के लिये काफी है ।

रांगेय राघव के लिए सामाजिक विकास क्लान, ट्राइब, नैशनैलिटी और नेशन के रूप में संगठित जनों का नहीं होता । उनके लिये जन संगठित होते

हैं, नस्ल में। इसलिये भारतीय इतिहास मूलतः दो नस्लों का संघर्ष हो जाता है। ये नस्लें आर्य और द्रविड़ों की हैं। इसलिये आर्य-दंभ का खण्डन करने के लिये रांगेय राघव द्रविड़-दंभ का सहारा लेते हैं और इन दो दंभों की टक्कर में तमिल और हिंदी संस्कृति की जातीय विरासत खत्म हो जाती है।

“राह के दीपक” नाम के कविता-संग्रह में वह लिखते हैं—

“धूलि के कन

हिमालय बन जा कि तुझको

कुचलने वाले भुकादें शीश।

आज मेरी धमनियों में

बज उठा है खौलता फिर

उस द्रविड़ का तप्त लोहू—

भींग शोणित से लड़ा जो

वर्णदम्भी, जातिदर्पी

गौर आर्यों से गरजकर

क्योंकि बर्बर कर रहे थे

आक्रमण,

घर द्वार उसका लूट।”

इस तरह तमिल और हिंदी भाषियों की जातीय विरासत को दो नस्लों के हवाले करके राघवजी रह जाते हैं—शुद्ध कॉस्मोपॉलिटन, न घर के न घाट के। लेकिन इसमें दोष मार्क्सवाद का नहीं है। नस्ल के आधार पर इतिहास का विश्लेषण करना पच्छिम के पूँजीवादी तथा-कथित वैज्ञानिकों की सूझ-बूझ है। यह प्रणाली न तो हिन्दुस्तान में प्रचलित रही है, न मार्क्सवाद को उससे कोई वास्ता है।

गोस्वामी तुलसीदास पर रांगेय राघव की विशेष कृपा है। “आलोचना” के उसी लेख में वह गोस्वामीजी की तारीफ़ में कहते हैं—“तुलसी ने केवल ब्राह्मण-धर्म को जन भाषा में लिखा था और इसलिये वे खूब संस्कृत भी भर लाये थे।”

हिंदीभाषी जनता का सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ ब्राह्मणधर्म की प्रतिष्ठा करने

के लिये लिखा गया है। जिन चौपाइयों, दोहों और छन्दों ने करोड़ों किसान हृदयों को रस-विह्वल कर दिया है, वे संस्कृत से भरे हुए हैं। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा था—“काक कहहि कल कण्ठ कठोरा।”

राँगेय राघव को मालूम है कि पुगोहितवर्ग ने तुलसी का विरोध किया था इसलिये इस अड़चन की सफाई देते हुए लिखते हैं, “तत्कालीन उच्चवर्ग ने प्रारम्भ में जो तुलसी का विरोध किया, वह ग़लती उन्होंने जल्दी महसूस की। राम-नाम के प्रताप से जूटन बिनकर खाने वाला तुलसीदास, अपने जीवनकाल में ही उन्हीं उच्च वर्गों के कंधों पर डोलने लगा, हाथी पर चढ़ने लगा।”

जी, तुलसीदास हाथी पर चढ़ने लगा। चार सौ साल बाद द्रविड़ रक्त खौलने पर राँगेय राघव तुलसी की दास-वृत्ति का पर्दाफाश करने पर कटिबद्ध हो गये हैं। उच्चवर्गों ने ग़लती जल्द महसूस की लेकिन हिन्दुस्तान की जनता ने अभी तक तुलसी की सामन्त-भक्ति को नहीं पहचाना। और जिस हाथी पर सामन्तों ने तुलसीदास को बिठाया था, वह तो बेचारा स्वर्गवासी हो गया लेकिन उनकी दुम राँगेय राघव के हाथ में रह गई जिससे उन्होंने सिद्ध कर दिया कि तुलसी हाथी पर चढ़े थे।

स्वाभाविक है कि चौहान की तरह राँगेय राघव को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना पसन्द न हो। लेकिन चौहान के लिये जहाँ शुक्लजी का दृष्टिकोण एकाङ्गी समाजशास्त्री था, वहाँ राँगेय राघव के लिये, “आचार्य शुक्ल ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण से देखा है।” (संगम और संघर्ष, पृ० ६२)।

शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण का एक प्रमाण देखिये। जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में शुक्लजी लिखते हैं, “सौ वर्ष पहले कबीरदास हिन्दू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पण्डितों और मुल्लाओं की तो नहीं रह सकते, पर साधारण जनता ‘राम और रहीम’ की एकता मान चुकी थी।” शुद्ध ब्राह्मणवाद !

तुलसीदास सामन्तों के साधारण सहायक नहीं थे। उन्होंने उभरते हुए सामन्त विरोध को ही खत्म कर दिया। “समाज में जो निम्नवर्गों का आन्दोलन ब्राह्मण सर्वाधिकार के विरुद्ध चल रहा था, उसे गहरी चोट दी, बल्कि

वह आन्दोलन ही नष्ट कर दिया और समस्त वेदानुयायियों को एक करके इस्लामी संस्कृति के विरुद्ध खड़ा कर दिया ।” (उप० पृ० ६४)

जैसे प्राचीनकाल में एक तरफ आर्य और दूसरी तरफ द्रविड़ खड़ा लिए खड़े थे, उसी तरह मध्यकाल में एक तरफ वेद लिए तुलसी जैसे ब्राह्मण खड़े थे, दूसरी तरफ कुरान लिए जायसी जैसे मुस्लिम थे । जातीय संस्कृति का कहीं पता न था । लेकिन मलिक मुहम्मद जायसी ने लिखा था—

“राघव पूज जाखिनी, दुइज देखाएसि साँभ ।

वेदपंथ जे नहिं चलहिं, ते भूलहिं बन माँभ”

कहना चाहिए कि जायसी और तुलसीदास ने जन-साधारण के खिलाफ संयुक्त मोर्चा बना लिया था—तुलसी ने कहा, तुम वेदों की तागीफ करो और हम तुम्हारी मस्जिद में पहरा दिया करेंगे (“माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लेबे को एक न देवे को दोऊ”) ।

लेकिन यह किसी को भ्रम न होना चाहिए कि रॉगेय राघव तुलसी को महान् कवि नहीं मानते । उनकी समस्या इतनी ही है कि ‘तुलसी को जन-वादी साबित करके ही क्या उनकी महत्ता प्रकट होती है ?’

अगर हम ‘कला कला के लिए’ सिद्धान्त मानें या साहित्य की महत्ता विचारों की महत्ता से निरपेक्ष मानें तो कोई न कोई कारण ढूँढ़कर तुलसी को जनवादी माने बिना भी उन्हें महान सिद्ध कर सकते हैं । लेकिन स्वयं तुलसी विचारशून्य साहित्य के पक्षपाती नहीं थे । उनकी प्रतिज्ञा थी—

“हृदय सिंधु मति सीप समाना । स्वाती सारद कहहिं सुजाना ।

जो बरखै बरबारि विचारु । होंहिं कवित मुकता मनि चारु ॥”

बिना महान् विचारों के कविता के मुक्तामणि नहीं मिलते । इसलिए तुलसी के विचारों को दरकिनार करके उनकी महत्ता आँकना कला में विचार-शून्यता के सिद्धान्त का समर्थन करना है ।

जो लोग कहते हैं कि तुलसीदास के विचारों का सारतत्व वर्णाश्रम धर्म का समर्थन है, वे तुलसी-साहित्य के अपार सौन्दर्य से अपने को अछूता रखते हैं । वर्णाश्रम धर्म के समर्थन में कहीं अमर महाकाव्यों की रचना होती है, कहीं करोड़ों जनों को रस-विह्वल कर देने वाले सौन्दर्य की सृष्टि होती है ।

हर महान् साहित्यकार की तरह तुलसी ने भी अपने समय के यथार्थ जीवन को बहुत गहराई से साहित्य में प्रतिबिम्बित किया है। यह यथार्थ का चित्र पुरोहितों-सामन्तों को पसन्द नहीं है; उसमें उन्हें अपनी भद्दी शकलें दिखाई देती हैं। जिस तरह उन्होंने वेद-मन्त्रों को “धरो टका” के लिए काम में लाकर जन-संस्कृति की परम्परा को प्रायः वेद-विहीन कर दिया, उसी तरह तुलसी को भी उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए काम में लाकर और जब तब निर्लज्जभाव से प्रक्षिप्त अंशों द्वारा भी जन संस्कृति से अलग करने की कोशिश की। तुलसी के ये ‘भक्त’ जहाँ जनता या सामाजिक यथार्थ की बात सुनते हैं, नाक-भों सिकोड़ कर कहते हैं कि ये प्रगतिवादी अपना पक्ष मजबूत करने के लिए तुलसी को भी खींचतान करके प्रगतिवादी सिद्ध करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में तुलसी का रूप संसार से उदासीन, भक्ति में लीन, वर्णाश्रम धर्म के समर्थक ब्राह्मण का है और यहाँ पर राँगेय राघव जैसे ‘वैज्ञानिक’ विचारक उनकी मदद के लिए आ पहुँचते हैं और जनता से कहते हैं; तुलसी तुम्हारा नहीं है; वह ब्रह्मणवाद का कवि है। उसका महत्व भी है तो इसीलिए कि वह वर्णाश्रम धर्म का समर्थक था। इस तरह प्रतिक्रियावादी पुरोहित संप्रदाय और तथाकथित “वैज्ञानिक” राँगेय राघव आदि का मूलतः दृष्टिकोण एक ही है—जन संस्कृति से अलग करके तुलसी को सामन्ती विचारधारा के समर्थक के रूप में देखना।

लेकिन तुलसी के काव्य-सौन्दर्य का जन्म वर्णाश्रम के समर्थन से नहीं हुआ, तुलसी भारतीय जनता की दुःसह वेदना के कवि हैं। तुकों और देशी सामन्तों के शासन और अत्याचार के नीचे पिसती हुई भारत की प्रजा के दुख को तुलसी से अधिक किसने पहचाना था ? किसकी मर्मवाणी जनता की गीनता और दरिद्रता को देखकर इस तरह कण्ठा से भीग उठी थी ? क्या हिन्दी साहित्य में तुलसी से बड़ा कोई भी कविवर्य का कवि पैदा हुआ है ? और क्या यह कविवर्य सामन्तों और पुरोहितों के प्रति उमड़ चली है ?

तुलसी का हृदय वास्तव में अगाध सिन्धु की तरह है। हिन्दुस्तान की जनता ने जो कुछ सुन्दर, सबसे अधिक मानवीय, सबसे अधिक मार्मिक उत्पन्न किया है, उसमें तुलसी सबसे सुन्दर, सबसे मानवीय, सबसे मार्मिक है। तुलसी

के हृदय-सिन्धु ने भरत, कौसल्या, राम, लक्ष्मण, सीता जैसे पात्रों की सृष्टि की है। ये पात्र मानव की ममता, करुणा, दया, क्रोध, शूरता आदि भावों के अन्यतम प्रतीक हैं। तुलसी ने जहाँ एक ओर सीधे-सीधे दैन्य का वर्णन करके कोटि-कोटि जनता की मर्म व्यथा को व्यक्त किया है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने रामायण के पात्रों में उन गुणों का चित्रण किया है जिन्हें वे जनता में विकसित होते देखना चाहते थे। वह एक ओर जनता की व्यथा से विकल हैं तो दूसरी ओर उस व्यथा को शान्त करने के लिये राम को आशाओं के केन्द्र के रूप में देखते हैं। राम का वह महत्व न वाल्मीकि के लिये था, न कालिदास और भवभूति के लिए जो कि हमारे तुलसी महान् के लिये था। भारत के प्राचीन कवि राम के पास वह वेदना का अथाह सागर लेकर न पहुँचते थे जो तुलसी के हृदय में लहरा रहा था। तुलसी की भक्त में जो तन्मयता, जो भावावेश, जो उत्कट आत्मनिवेदन है, वह इसीलिए कि तुलसी अपने युग की व्यथा से व्यथित हैं। तुलसी का आत्मनिवेदन भक्तों के अतिरंजित दैन्य वर्णनों से बिल्कुल भिन्न कोटि का है। तुलसी ने अपने जीवन के एक-एक क्षण में जिस पीड़ा का अनुभव किया था, वही उनके आत्मनिवेदन को इतना हृदय स्पर्शी बनाती है। वर्ग-समाज में जनता की वेदना एक ध्रुव सत्य है जो किसी न किसी रूप में साहित्य में प्रकट होती ही है। तुलसी की महत्ता इस बात में है कि वे इस वेदना के सबसे बड़े कवि हैं।

लेकिन वह निराशा के कवि नहीं हैं। उनकी आशाओं के केन्द्र राम हैं जिनसे बार-बार तुलसी जन-जीवन के कष्ट दूर करने की प्रार्थना करते हैं। इतना ही नहीं, वह जनसाधारण से, राम का भरोसा करके, अन्याय और अपमान के सामने सर उँचा करके खड़े होने को कहते हैं। चारों ओर से रूढ़िवादियों के आक्रमण होने पर समरशूर की तरह तुलसी ने शत्रुओं को काशी में ही चुनौती दी और जो ज्ञान पुरोहितों की बपौती बना हुआ था, उसे नया रूप देकर उन्होंने उसे जन-सम्पत्ति बना दिया। तुलसी मध्यकाल के उन थोड़े से कवियों में हैं जो समाज को निष्क्रियता का सन्देश नहीं देते। उनके राम उन थोड़े पात्रों में से हैं जो संघर्ष की तरफ तटस्थता, जीवन-संग्राम में निष्क्रियता, कर्म की जगह केवल आनन्दवाद के प्रचारक नहीं है।

तुलसी ने राम में वह सब कुछ मूर्तिमान कर दिया है जो उनके युग की जनता होना चाहती थी। रादण के अन्याय पर विजयी राम भारतीय जनता की विजय-अभिलाषा के प्रतीक हैं। तुलसी के राम भारतीय साहित्य के उन वीर नायकों की परम्परा में हैं जो अन्यायी को समझाने-बुझाने के बाद उसके हठ को शक्ति से चूर कर देते हैं। वह शील, शक्ति और सौंदर्य तीनों ही के प्रतीक हैं। इसमें भी उनका प्रेमविह्वल रूप—“कहुँ पट कहुँ निषंग कहुँ तीरा” वाला रूप—भारतीय साहित्य में अद्वितीय है।

तुलसी निषेध के कवि नहीं हैं। वह सहज अपावन नारि के सौंदर्य बर्णन में हर रोमांटिक कवि को परास्त करने के लिये तत्पर हैं। वैराग्य और जीवन के संघर्ष में वह यथार्थ जीवन के साथ हैं। वह अपने समाज की व्यवस्था से असन्तुष्ट थे। वह वैरागी होते तो उनके लिये यह कहना आसान होता कि संसार छोड़कर अनहदनाद सुना करो लेकिन वह इस जीवन में भी मनुष्य जीवन को सुखी बनाना चाहते थे, इसलिए वह एक आदर्शसमाज रचना चाहते थे।

तुलसी ने जन-भाषा के सौन्दर्य को इस तरह पहचाना था, जैसे उनके पहले या बाद किसी ने नहीं पहचाना ! वे साधारण शब्दों से सभी रसों, सभी भावों के लिये उचित रूप गढ़ लेते थे। तुलसी के चित्रों में विराट् को समेट कर संक्षिप्त करके उसे धन्य प्रदान करने की अद्भुत क्षमता है। उनके कुछ दोहे किसी महाकाव्य के एक एक सर्ग का सौन्दर्य अपने में केन्द्रित किये हैं। रूपकों के वह सम्राट् हैं। इनके सिवा उनके काव्य की आत्म-विभोर गेयता संसार के महान् लिरिक-कवियों जैसी है। तुलसी के इस काव्य-सौन्दर्य का स्रोत देश की जनता के प्रति उनका अगाध स्नेह है जिसके वशीभूत होकर वह राम के भक्तों को राम से बढ़ कर मान लेते हैं—

“मोरे मन अस दृढ़ बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।”

हमारे “वैज्ञानिक” विचारकों को तुलसी में यह सब कुछ नहीं दिखाई देता। उनके लिये मध्यकालीन इतिहास का मूल संघर्ष इस्लाम और हिन्दू संस्कृति का संघर्ष है और तुलसी महान् हैं तो इसीलिये, प्रतिक्रियावादी हैं तो इसीलिये। उन्होंने पुरोहितों और राजाओं की जो आलोचना की है वह

“वैज्ञानिकों” के अनुसार जनता को बहकाने के लिये ! उन्होंने इस्लाम के विरुद्ध क्या-क्या लिखा है, इसका प्रमाण हिंदू-संस्कृतिवादी नहीं देते ।

साहित्य में संकीर्णतावाद क्या है, कुत्सित समाजशास्त्र क्या है, इसे समझने के लिये रांगेय राघव के तुलसी-संबंधी निबंध पढ़ लेना काफी है । तुलसी ने जो नैतिक मूल्य काव्य में चित्रित किये हैं—शिशु के भोलेपन से प्यार, दंभ से धृष्टा, अन्याय के प्रति रोष—यह सब हमारे मित्रों के लिए सामन्तवाद का समर्थन है । भले ही इन मित्रों की आलोचना विज्ञान का डंका पीटती आये, उसके स्वर में अंब्रेजी संगीत पहचानना मुश्किल नहीं है जिसने हमारे कुछ बुद्धिजीवियों को यह सिखलाया है कि भारत की जनता धृष्टा के योग्य है और जिन कवियों को वह प्यार करती आई है, वे भी धृष्टा के योग्य हैं । संस्कृति की तरफ उनके कॉस्मोपॉलिटन, अजातीय दृष्टिकोण का यह भी एक प्रमाण है । जिन कवियों ने जातीय संस्कृति को समृद्ध किया है, उन्होंने पर आक्रमण करके वे जातीय संस्कृति की परंपरा को कमजोर कर देना चाहते हैं । उसका नतीजा उनकी अपनी कृतियों में साफ दिखाई देता है जो ऐसी अनुपम कला का नमूना होती हैं कि पढ़ने वाले को लगता है कि इनके यहाँ या तो अच्छा लिखने वाले पैदा नहीं हुए या इन्होंने उन्हें पढ़ा नहीं । हिंदी साहित्य की जनवादी परम्परा को नष्ट करना इनकी सामर्थ्य के बाहर है; इसलिए साहित्यकार के रूप में वे खुद ही आत्मघात करके अपने अस्तित्व को सार्थक कर देते हैं ।

(२)

“विवेचना” की भूमिका में श्री इलाचन्द्र जोशी कहते हैं, “अपने प्रगतिवादी बंधुओं से मेरा निवेदन है कि वे अपने रूढ़िवादी दृष्टिकोण की हठधर्मिता त्याग कर सूक्ष्म विचार पूर्वक मेरे निबंध को पढ़ें और उसके यथार्थ मर्म समझने का प्रयत्न करें ।”

स्वागत । हम सभी तरह के रूढ़िवाद के विरोधी हैं, भले ही वह प्रगतिवादी रूढ़िवाद ही क्यों न हो ।

जोशी जी विश्वास दिलाते हैं कि उनका दृष्टिकोण “किसी भी अर्थ में प्रतिक्रियावादी नहीं है, बल्कि सच्ची प्रगति में रूढ़िवादी प्रगतिवाद से बहुत

आगे बढ़ा हुआ है और जिसका वास्तविक बाह्य प्रगति से कोई विरोध नहीं है, बशर्तें वह अन्तर्प्रगति को आधार रूप में अपनाये हुए हो ।”

यह और भी अच्छा है कि वह प्रगतिवाद से आगे बढ़ा हुआ है, कारण कि कुछ लोगों को चिंता होती है कि वाद देशकाल से सीमित होते हैं । कुछ समय के बाद जब प्रगतिवाद की उपयोगिता खत्म हो जायगी, तब हम क्या करेंगे ? उसके लिए जोशीजी अभी से इन्तजाम किये देते हैं । वह यह भी विश्वास दिलाते हैं कि उनका वास्तविक बाह्य प्रगति से कोई विरोध नहीं है; शर्त यह कि वह अन्तर्प्रगति को आधार रूप में अपनाये हुए हो ।

मार्क्सवाद एकाङ्गी ही नहीं पुराना भी पड़ गया है, इसलिए उसे भरा पूरा बनाने के लिए या उसके उपयोगी तत्व लेकर एक समन्वयात्मक प्रगतिवाद रचने की आवश्यकता अनुभव करके जोशीजी ने लिखा है, “यदि वे जान-बूझकर प्रगतिवाद के नाम पर संस्कृति के क्षेत्र में १०० वर्ष पुरानी मार्क्सिय रुढ़िवादिता को अपनावें और यथास्थित्यात्मक दृष्टिकोण का अनुसरण करना चाहें तो यह बात दूसरी है । इसका उन्हें पूरा अधिकार है । पर यदि वे सच्चे हृदय से यह मानते और चाहते हैं कि प्रगतिवाद के नाम पर किसी भी यथास्थित्यात्मक जगड़वाल को (चाहे वह मार्क्सिय ही क्यों न हो) अपनाये रहना ग़ोर मूर्खता है, तो मैं उनसे अनुरोध करूँगा कि वे मेरे नये प्रगतिवाद का अनुसरण करें जिसमें वास्तविक बाह्य प्रगति तथा अन्तरीण प्रगति को समान-समन्वयात्मक-रूप से अपनाया गया है ।”

हम हर तरह की मूर्खता के विरुद्ध हैं, घोर मूर्खता के तो और भी । इसलिए हम समान समन्वयात्मक दृष्टिकोण के बारे में जो कुछ कहा जायगा, उसे ध्यान से सुनेंगे ।

मार्क्स के और अपने युग की तुलना करते हुए जोशीजी कहते हैं, “मैं जानता हूँ कि मार्क्स अपने जमाने में घोर प्रगतिशील था, पर हम लोग जो मार्क्स से सौ साल बाद आगे बढ़ गए हैं, स्वभावतः उससे कहीं अधिक गतिशील हो गए हैं ।”

वह अधिक प्रगतिशीलता फ्रायड आदि के मनोविश्लेषणशास्त्र की रचना सम्भव हुई है । मार्क्स और फ्रायड की तुलना करते हुए जोशीजी कहते हैं,

“माक्स और फ्रायड ये दोनों महारथी एक ही मूल सत्य के दो छोरों के प्रति निधि हैं। माक्स ने बाह्य जगत् की कालानुक्रमिक प्रगतिशीलता का हमें पाठ पढ़ाया है और सामूहिक जीवन की वास्तविकता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करके उसके सुचारु संगठन का उपाय सुझाया है। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात है, जिसके उद्देश्य की मांगलिकता पर किसी भी समझदार व्यक्ति को सन्देह नहीं हो सकता। पर फ्रायड ने भी अन्तर्जगत् के गहन सत्य की पूंजीभूत जटिलताओं की ओर हमारी आँखें प्रेरित की हैं तथा जीवन और जगत् का एक नया ही दृष्टिकोण हमारे सामने रखा है, जो माक्सिय दृष्टिकोण से किसी कदर कम महत्वपूर्ण नहीं है।”

एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण हो तो भी काम चल जाता है; दो दो महत्वपूर्ण दृष्टिकोण हों तो बात ही क्या। कभी यह इस्तेमाल किया कभी वह।

जोशी जी के दृष्टिकोण की सार्थकता तब मालूम होती है जब वे अपना समन्वयात्मक दृष्टिकोण साहित्य पर लागू करते हैं। तब वे अन्तर्जगत् के गहन सत्य की पूंजीभूत जटिलताओं का उद्घाटन बड़ी सफलता से करते हैं। मिसाल के लिए हिंदी में प्रगतिवाद का चलन क्यों हुआ? जोशी जी कहते हैं, “प्रगतिवादी कवियों की रचनाओं को मनोनिवेश पूर्वक पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि समाज के प्रतिष्ठित नियमों के प्रति उनका विद्रोह समाज के सामूहिक कल्याण को भावना से प्रेरित होकर नहीं बल्कि अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की चरितार्थता में बाधा पहुँचने के कारण, समाज के विरुद्ध उसी पुरानी प्रतिहिंसा की मनोवृत्ति के विस्फोट के फलस्वरूप व्यक्त हुआ है।”

मिसाल के लिए शिवमंगलसिंह सुमन को ग्वालियर के बदले उज्जैन में प्रोफेसरी मिली, नागार्जुन मठाधीश न होकर मारे-मारे फिरते रहे, शंकर शैलेन्द्र को सिनेमा में नौकरी न मिली, केदार की वकालत न चली, शील का यथेष्ट सम्मान कानपुर में न हुआ, वगैरह। इस तरह प्रगतिवाद की हम एक समन्वयात्मक व्याख्या कर सकते हैं—समाजविरोधी प्रतिहिंसा का विस्फोट। लेकिन यह व्याख्या नयी नहीं है। पन्तजी, नवीन जी आदि कवियों से हम यह पहले ही सुन चुके थे, ये प्रगतिवादी प्रतिहिंसावादी हैं। जोशी जी का दृष्टिकोण उसी परिणाम पर पहुँचता है जहाँ पन्त जी का समन्वयवाद।

अब देखिये, छायावादी कवियों ने किस प्रेरणा से रचनाएँ कीं। जोशी जी का मत है कि “हमारे अधिकाँश छायावादी कवियों ने कविता इसलिए नहीं की कि वे दुःख दैन्य पीड़ित और जीवन-ज्वर से जर्जरित मानवता को विश्व कल्याणकारी स्वस्थ सौन्दर्य से परिचित करावें बल्कि इसलिए कि वे सौंदर्य की सहज ओट में अपने विकृत मनोभावों को व्यक्त करके अपने भीतर के दांभिकताजनित, स्वार्थक्लेशयुक्त फोड़ों को फोड़ सकें।”

छायावाद अर्थात् फोड़ों का मवाद ! चलो छोड़ो इसे भी। लेकिन यह न समझिये कि हिंदी के कुछ छायावादी कवियों ही ने यह अपराध किया है। अँग्रेजी के स्वनाम धन्य शेली, बायरन और कीट्स को लीजिए। जोशीजी की सम्मति है, “रोमान्टिक कवि स्वभावतः कैसे आत्मगत और विकृत स्वार्थपूर्ण प्राणी होते हैं, इस बात के अनेक उदाहरण उनके जीवन इतिहास से मिल सकते हैं। शेली ने अपने स्वार्थ के लिए अपनी प्रथम स्त्री को त्याग कर उसे आत्महत्या के लिए विवश किया। बायरन ने अपने जीवन में न जाने कितनी महिलाओं का जीवन बर्बाद कर दिया, इसका ठिकाना नहीं। कीट्स की घोर आत्मगत मनोभावना का परिचय मनोवैज्ञानिकों को दूसरे रूप में मिलता है।”

लगता है कि ब्रिटेन की समाज-व्यवस्था, पूँजीपति और पुरोहित पाखंडी साहित्यकार शेली, बायरन और कीट्स पर किसी तरह के अत्याचार के लिए जिम्मेदार न थे। सारी जिम्मेदारी इन नर-राक्षसों की ठहरती है जो किसो को आत्महत्या के लिए विवश कर रहे थे, किसी की जिन्दगी बर्बाद कर रहे थे। जोशी जी का समानसमन्वयात्मक दृष्टिकोण समाज के उत्पीड़क वर्ग को सामाजिक अन्याय से काफी मुक्त कर देता है क्योंकि इंसान की बर्बादी के लिए वे जिम्मेदार नहीं हैं बल्कि हर मनुष्य के हृदय में बैठा हुआ राक्षस है। इस दृष्टिकोण से भी हम साहित्य में परिचित हैं। आये दिन सुना करते हैं, लोगों की गरीबी की जिम्मेदारी साम्राज्यवाद या कॉंग्रेसी नेताओं पर नहीं है, अपने को सुधारो तो सारा समाज सुधर जायगा। दृष्टिकोण दो, नतीजा एक ही।

सन्त कवियों को लीजिए। “सन्त तथा भक्त कवियों ने साहित्य तथा धार्मिक जगत् को एक निराले प्रेमोन्माद से छा दिया। उन लोगों ने अपने

अनजान में अवचेतन मन की 'फेन्टसीज' की छायाभूतियों की लगाम इस कदर ढीली कर दी कि सोच कर आश्चर्य होता है ।”

प्रगतिवादियों की तरह इनमें भी विश्व कल्याण की भावना का अभाव था । साहित्य में उन्हीं दमित प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति है ।

वैष्णव कवि और उनमें भी जयदेव विशेष रूप से दोषी हैं । जोशी जी जयदेव की सी ही ललित पदावली में उन्हें याद करते हैं । “कुछ वैष्णव कवियों ने तो राधाकृष्ण का प्रेम वर्णन करते समय आध्यात्मिक रूपकों में बाह्यावरण भी उतार कर फेंक दिया है और विशुद्ध भावना के त्रिषैले श्यासों का स्वच्छंद उद्गीरण किया है । ‘गीत गोविन्द’ के रचयिता जयदेव को मैं इस कोटि के कवियों में अन्यतम मानता हूँ ।” जयदेव आदि कवियों की शृङ्गारिकता अत्यन्त अस्वस्थ और विकृत है—वह दमित यौन वृत्ति के विकारों से ग्रस्त पागल का प्रलाप है ।”

यह बात जयदेव के लिए सत्य है तो यह भी सत्य होगा कि आज तक जो पाठक उनकी पदावली में रस लेते रहे हैं, वे सभी दमित यौन वृत्ति के विकारों से ग्रस्त रहे हैं, पागलों का प्रलाप सुनने में रसानुभूति करते रहे हैं ।

चंडीदास के बारे में सुना है कि बड़े ही सुन्दर कवि थे । जोशी जी के अनुसार उन्होंने अपने जीवित प्राणों की रसानुभूति की उन्मादना तो दी लेकिन “स्नायु विकार-ग्रस्त भावोद्गारों से वे भी बच न सके ।” गनीमत यही है कि दमित यौन वृत्ति के विकारों से ग्रस्त होने के बदले वे स्नायु-विकार-ग्रस्त थे ।

इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास महान् कवि हैं लेकिन किस लिए ? इस लिए कि अभिज्ञान शाकुन्तल में “आरम्भ से अन्त तक उन्होंने अपने नायक को धूर्त, छली, कपटी और घोर स्वार्थ परायण चित्रित किया है ।”

एक और महान् ग्रन्थ है, महाभारत । यह ग्रन्थ क्यों महान् है ? इसलिए कि “सब देशों ने, सर्वकाल ने, धर्म और नीति के जो तत्व प्रतिपादित किए हैं, महाभारत के मनीषियों ने उनके प्रति वृद्धांगुष्ठ प्रदर्शित करके प्रबल फूत्कार से उन्हें उड़ा दिया है ।” (साहित्य-सर्जना, पृष्ठ ४८)

इसमें सन्देह नहीं कि जोशीजी ने अपने समव्यात्मक दृष्टिकोण से बहुत

से पुराने और नये साहित्यकारों के अन्तर्जगत् में पैठकर उनकी जटिलताओं के सत्य को उद्घाटित कर दिया है। कहना चाहिए, बड़ों-बड़ों को उन्होंने वृद्धांगुष्ठ प्रदर्शित करके प्रबल फूत्कार से उड़ा दिया है। इससे यही पता चलता है कि साहित्य रचने और पढ़ने वाले अधिकतर दमित यौन विकारों से ग्रस्त रहते हैं। साहित्य की कोई लोक-मंगलकारी भूमिका नहीं है। इसके सिवा समाज के अत्याचारी और शोषक वैसे ही अपने अन्दर के राज्ञसों से परेशान थे जैसे शोषित। इसलिए सामाजिक विकास की मूल धुरी हुई, सब लोग अपने भीतर के राज्ञसों से लड़ो। और जब तक ये राज्ञस न मारे जायेंगे तब तक बाह्य जीवन को बदलने की सारी कोशिशें बेकार होंगी।

इसके बदले मार्क्सवाद कहता है कि अपने भौतिक जीवन की परिस्थितियों को बदलने के लिए कोशिश करते हुए ही तुम अपने को भी बदलो। इसलिए परिस्थितियों को पहचानो, उन्हें अपने हित में बदलो। इसी तरह तुम्हारे संस्कार बदलेंगे और शोषण मुक्त सुसंस्कृत समाज की रचना होगी। यह सिद्धांत जोशी जी को सौ बरस पुराना और रूढ़िवादी मालूम होता है। अगर अमल से देखें तो करोड़ों आदिमियों के जीवन में वह सही साबित हो चुका है। इसके बदले फ्रायड आदि के सिद्धान्त यूरोप में कुछ क्रान्ति-विरोधियों के जरूर काम आये हैं लेकिन वहाँ भी वे सामाजिक प्रगति को रोकने में असमर्थ हो रहे हैं। हिन्दुस्तान में उनके पुर्साहाल तो और भी कम हैं।

नतीजा यह कि मार्क्सवाद फ्रायड के सिद्धान्त से समन्वय नहीं करता बल्कि उसे अवैज्ञानिक कह कर उसका खंडन करता है। फ्रायडवादी विचार-धारा साहित्य की परंपरा से कैसा सलूक करती है, यह जयदेव, भक्त कवियों, छायावादी और प्रगतिवादी साहित्यकारों पर जोशीजी की सम्मति से पता चल जाता है।

भारतीय संस्कृति बनाम मार्क्सवाद

(१)

“उत्तरा” की भूमिका में पंतजी कहते हैं, “अपने युग को मैं राजनीतिक दृष्टि से जनतन्त्र का युग और साँस्कृतिक दृष्टि से विश्वमानवता अथवा लोकमानवता का युग मानता हूँ।”

अगर राजनीति और संस्कृति विरोधी वस्तुएँ न हों तो जनतन्त्र और लोकमानवता एक दूसरे की विरोधी न होकर पूरक हों। आखिर वह लोकमानवता इस लोक ही में विकसित होती है, परलोक में नहीं। इसलिये यह कल्पना करना कठिन है कि जनवादी राजनीति से भी लोक-संस्कृति के लिये खतरा हो सकता है।

पंतजी राजनीतिक वादों के बारे में कहते हैं, “राजनीति के क्षेत्र के किसी भी प्रगतिकामी वाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नहीं है; एक तो राजनीति के नक्कारखाने में साहित्य की तूती की आवाज कोई मूल्य नहीं रखती, दूसरे, इन सभी वादों को मैं युग-जीवन के विकास के लिए किसी हद तक आवश्यक मानता हूँ.....साँस्कृतिक दृष्टि से इनकी सीमाओं से अवगत तथा साधनों से असंतुष्ट होने पर भी मैं अपने युग की दुर्निवार तथा मानव मन की दयनीय दुर्बोध सीमाओं से परिचित एवं पीड़ित हूँ।”

आश्चर्य की बात है कि पंतजी जनवादी राजनीति से विरोध न मानते हुए भी उसके साधनों से असंतुष्ट हैं, मानव मन की सीमाओं से पीड़ित हैं। लेकिन पंतजी की संस्कृति राजनीति से पराङ्मुख नहीं है। उसे राजनीतिक हलचलों से बेहद दिलचस्पी है, यहाँ तक कि वह अपनी कार्यवाही से उन हलचलों को रोक तक लेना चाहती है। पंतजी जानते हैं कि आज हिंदुस्तान की ही जनता नहीं, सारी दुनियाँ की जनता अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही है। भारतीय जनता का संघर्ष विश्व जनता के संघर्ष का ही एक अंग है। इस सच्चाई को

लक्ष्य करके पंतजी उसी भूमिका में कहते हैं, “ऐसे विश्व-संघर्ष के युग में सांस्कृतिक संतुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मैं जाग्रत चैतन्य मानव का कर्तव्य समझता हूँ। और यदि वह संभव न हो सका तो क्रान्ति की परिस्थितियों द्वारा संगठित सत्य तो भूकम्प, बाढ़ तथा महामारी की तरह है ही, उसके अदम्य वेग को कौन रोक सकता है।”

परिस्थितियों द्वारा संगठित सत्य है क्रान्ति। जीवन की परिस्थितियाँ मनुष्य को क्रान्तिकारी परिवर्तनों की तरफ ढेल रही हैं। लेकिन ये परिवर्तन पंतजी को भूकम्प, बाढ़ तथा महामारी की तरह भयानक लगते हैं। इन परिस्थितियों के अदम्य वेग को रोकने के लिए पंतजी के पास कौनसी औषधि है? पंतजी के पास जो औषधि है, उसे वे सांस्कृतिक संतुलन कहते हैं। इस सांस्कृतिक संतुलन का जो भी अर्थ हो, एक बात साफ है और वह यह कि इस संतुलन की एक शुद्ध राजनीतिक उपयोगिता भी है,—क्रान्ति को रोकना। क्रान्ति का वेग अदम्य है, यह देखकर पंतजी मानवमन की दयनीय सीमाओं से पीड़ित हो जाते हैं।

पंतजी राजनीति और संस्कृति के समन्वय के पक्षपाती हैं। विशेष रूप से वह मार्क्सवादी राजनीति और भारतीय संस्कृति के समन्वय के पक्षपाती हैं। उनका दृष्टिकोण एकाङ्गी नहीं है। वह समन्वय के लिए इतने उत्सुक हैं कि मार्क्सवादी राजनीति में जो खराबियाँ हैं, उन्हें दूर करके उसके विशुद्ध लोक-पक्ष को वैसी ही विशुद्ध भारतीय संस्कृति से मिला देना चाहते हैं।

मार्क्सवाद के बारे में पंतजी “उत्तरा” की भूमिका में कहते हैं, “मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ। किंतु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्तक्रांति और वर्ग-युद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमाएँ मानता हूँ।” पंतजी चाहते हैं कि मार्क्सवाद एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह उपयोगी हो लेकिन मुश्किल यह है कि वह न तो सभी वर्गों के लिए समान रूप से व्यापक है और न सभी के लिए समतल है। उसका ऊबड़-खाबड़पन क्रान्ति और वर्ग-संघर्ष के कारण है। पंतजी इन्हें निकाल कर उसे समन्वय के उपयोगी बनाना चाहते हैं।

वर्ग युद्ध और क्रान्ति मार्क्स के युग की सीमाएँ किस तरह थीं, इसकी

व्याख्या करते हुए पंतजी ने आगे लिखा है, “मार्क्स ने, समस्त पश्चिम के ज्ञान को आत्मसात् कर, सिर के बल खड़े हीगल को पैरों के बल खड़ा नहीं किया; यूरोप का मनोद्वन्द ही तब अपने आर्थिक राजनीतिक चरणों पर खड़ा होकर ‘युद्ध देहि’ कहने को सन्नद्ध हो उठा था; जिसका पूर्वाभास पाकर युग-प्रबुद्ध मार्क्स ने उसपर अपने वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त की रक्त की छाप लगा दी। डारविन ने जहाँ, पूँजीवाद के अभ्युदय काल में अपने ‘सरवाइवल ऑफ दि फिटेस्ट’ के सिद्धान्त को जीव विकास क्रम पर प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठित किया, वहाँ मार्क्स ने यंत्र युग के आर्थिक चक्रों से जर्जर, सर्वहारा का पक्ष लेकर वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त को द्वंद्वतर्क से परिचालित, ऐतिहासिक विकास-क्रम में (युग संकट के समाधान के रूप में)।”

पंतजी ने मार्क्सवादी राजनीति का मोटा अर्थ लगाया है—वर्गयुद्ध का सिद्धान्त। इस सिद्धान्त का पूर्वाभास मार्क्स को मिला यूरोप के मनोद्वंद में। यह मनोद्वंद किन मनुष्यों में, किन रूपों में हो रहा था, इस पर पंतजी ने प्रकाश नहीं डाला लेकिन इतना जरूर बतलाया है कि यह मनोद्वंद आर्थिक राजनीतिक चरणों पर खड़ा हो गया था। दूसरे शब्दों में कुछ लोगों का मानसिक संघर्ष आर्थिक राजनीतिक संघर्ष को जन्म दे रहा था। इससे पता चलता है कि मार्क्स के समय में वस्तुगत सत्य सर्वहारावर्ग और पूँजीपतियों का संघर्ष न था बल्कि सत्य था कुछ लोगों का मानसिक संघर्ष जो बाह्य जगत् में युद्ध के लिए ललकारने लगा। यदि उस समय यूरोपवालों को सांस्कृतिक संतुलन का सत्य मालूम होता तो वर्गयुद्ध और रक्तक्रांति के प्रेमी मार्क्सवाद का जन्म न होता।

मार्क्स मनोविज्ञान का चतुर पंडित था। उसे पता चल गया कि मनोद्वंद्व युद्ध देहि की पुकार करने वाला है। इसलिए उसने तुरंत उस पर वर्ग-युद्ध की रक्त छाप लगाकर उसके सर्वाधिकार सुरक्षित करा लिए। डारविन ने जो काम जीवविकास-क्रम में किया यानी उस क्रम में जिसकी लाठी उसकी भैंस वाला सिद्धान्त लागू किया, वही काम मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास-क्रम में किया यानी यहाँ भी हिंसा का सिद्धान्त लागू कर दिया।

वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मार्क्स ने ईजाद न किया था। यह सिद्धान्त

पूँजीपति पहले से ही जानते थे, उसे अक्सर मानते भी थे। मार्क्स ने इस वर्ग-संघर्ष को खत्म करके, पूँजीवादी हिंसा और शोषण का राज्य खत्म करके मजदूरों को अपना राज्य कायम करने का रास्ता दिखाया। मार्क्स का ऐतिहासिक महत्व इस बात में है कि उन्होंने मजदूर वर्ग को अपनी युगान्तरकारी भूमिका के प्रति सचेत किया। पंतजी चेतना की बातें करते नहीं थकते। भौतिकवाद की खास कमी उन्हें यह मालूम होती है कि वह चेतना को महत्व नहीं देता। मार्क्स ने मजदूर वर्ग को शोषण के तमाम चक्रव्यूह का परिचय देकर उसे इतिहास को बदलने के लिये जो सचेत किया, वह वर्ग-चेतना पंतजी को घोर अचेतन मालूम पड़ती है।

“राज्य सत्ता और क्रान्ति” में लेनिन ने मार्क्सवाद और वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत के परस्पर संबंध के बारे में कहा है, “अक्सर यह कहा और लिखा जाता है कि मार्क्स की थ्योरी का मूलसूत्र वर्ग-संघर्ष है, लेकिन यह सत्य नहीं है और इस गलती से अक्सर मार्क्सवाद का अवसरवादी तोड़-मरोड़ पैदा होता है, उसे पूँजीपतियों के लिए ग्राह्य बनाने के लिये उसे झुठलाना शुरू होता है। कारण कि वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत मार्क्स द्वारा नहीं बल्कि मार्क्स से पहले पूँजीपतियों द्वारा रचा गया था और मोटे तौर से वह पूँजीपतियों को ग्राह्य भी है।”

लेनिन ने बताया है कि मार्क्सवाद को ग्रहण करने की असली कसौटी यह है कि आप मजदूर-राज्य के सिद्धांत को मानते हैं या नहीं। पंतजी के लिए मजदूर-राज्य का तो सवाल ही नहीं उठता; वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त जो मार्क्स के समय पूँजीपतियों तक को मान्य था, वह भी पंतजी को मान्य नहीं है।

युद्ध देहि की आवाज मार्क्स ने न लगाई थी। यूरोप (और एशिया को भी) आक्रांत करने वाले पूँजीवाद ने मजदूर वर्ग और तमाम औपनिवेशिक जनता को युद्ध की चुनौती दी थी। मार्क्सवाद उस चुनौती का उत्तर था, पूँजीवादी शोषण का अंत करने के लिये, इस युद्ध देहि की आवाज का खात्मा करने के लिये। इसलिये जब डारविन ने जीवविकास-क्रम पर पूँजीवाद का “खुद खाओ दूसरों को मारो” का सिद्धान्त लागू किया तो मार्क्स और

एंगेल्स उसकी व्यंग्यपूर्ण आलोचना किये बिना न रह सके। मार्क्स ने अपने एक पत्र में लिखा था, “यह सुन्दर है कि डारविन ने पौधों और पशुओं में फिर अपना अंग्रेजी समाज ढूँढ़ निकाला है जिसमें उसका भ्रम विभाजन, होड़, नये बाजारों का खुलना, ‘आविष्कार’ और जीवन के लिये माल्थस वाला संघर्ष है।” एंगेल्स ने “डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर” में लिखा था, “डारविन को यह पता न था कि उसने मनुष्यजाति पर कैसा तीव्र व्यंग्य किया है, खास तौर से अपने देशवासियों पर, जब उसने खुली होड़, जीवन के लिये संघर्ष को, जिसे अर्थशास्त्री सबसे बड़ी ऐतिहासिक सकलता मानते हैं, पशु-जगत् की साधारण दशा बतलाया।”

इसलिये यह कहना कि जहाँ डारविन ने ‘सर्वाइवल आंव दि फिटिस्ट’ के सिद्धान्त को जीवविकास-क्रम पर लागू किया, वहाँ मार्क्स ने वर्ग-युद्ध को ऐतिहासिक विकासक्रम पर लागू किया, मार्क्स को पूँजीवादी चश्मे से देखना है और मजदूरवर्ग के नये जीवनदर्शन के क्रान्तिकारी रूप को अस्वीकार करना है। पंतजी जब लिखते हैं कि राजनीति के क्षेत्र के किसी भी प्रगतिकामी वाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नहीं है, तब महत्वपूर्ण बात यह नहीं होती कि उन्हें किसी वाद से विरोध है या नहीं बल्कि यह कि उन्होंने उस वाद या सिद्धान्त को सही तरीके से पाठकों के सामने रखा है या नहीं। जब वह कहते हैं, “मैं मार्क्सवादी (आर्थिक दृष्टि से वर्गसंतुलित) जनतन्त्र तथा भारतीय जीवनदर्शन को विश्वशान्ति तथा लोककल्याण के लिये आर्दश-संयोग मानता हूँ,” तब सवाल यह उठता है कि यह वर्ग-संतुलित जनतन्त्र है कौनसा जिसका संयोग पंतजी भारतीय जीवन दर्शन से करना चाहते हैं? मार्क्सवाद के लिए या तो जनतन्त्र में पूँजीपतियों का आधिपत्य होगा या सत्ता जनसाधारण के हाथ में होगी। वर्ग-संतुलित जनतन्त्र रचने की कोशिशें कॉमनवेल्थी प्रजातंत्रों में जरूर होरही हैं जिनका उद्देश्य है कि जन-संपत्ति के ट्रस्टी जमींदार, पूँजी-पति अपना शोषण क्रम भी जारी रखें और किसान-मजदूर रामराज्य में सन्तोष की साँस भी लेते रहें। लेकिन यह वर्ग-संतुलन या रोपडान्स ज्यादा सकल होता नहीं दिखाई देता।

पंतजी मार्क्सवाद के दर्शनपक्ष का खंडन करने के बाद उसके लोकपक्ष

का समर्थन करते हुए कहते हैं, “मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोलते दर्शन पक्ष में नहीं, उसके वैज्ञानिक (लोकतंत्र के रूप में मूर्त) आदर्शवाद में है, जो जनहित अथवा सर्वहारा का पक्ष है; किन्तु उसे वर्ग-क्रांति का रूप देना अनिवार्य नहीं है। वर्ग युद्ध का पहलू फासिज्म की तरह ही निकट भविष्य में पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी युग की प्रतिक्रिया के रूप में विकृत एवं विकीर्ण हो जायगा।”

पंतजी को जितना भय साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया से है उतना स्वयं साम्राज्यवाद से नहीं। उन्होंने जितना भगीरथ प्रयत्न मार्क्सवाद को शुद्ध करने में किया है, उतना साम्राज्यवादी विचारधारा से संवर्ष करने में नहीं। बल्कि साम्राज्यवादियों के प्रचार से मिलती-जुलती उनकी यह बात है कि मार्क्सवाद की जो प्रतिक्रिया होती है—जनआन्दोलन बढ़ते हैं, जनराज्य कायम होते हैं—वह फासिज्म की तरह विकृत है !

पंतजी मार्क्सवाद के ऐसे वैज्ञानिक आदर्शवाद में विश्वास करते हैं जिसमें अवैज्ञानिक वर्गसंघर्ष के बदले वैज्ञानिक वर्ग-सहयोग (या वर्गशोषण) हो। वह मार्क्सवाद के ऐसे लोकतंत्र में विश्वास करते हैं जो वर्ग और राज्यसत्ता के परस्पर सम्बन्धों के सवाल को न उठाए। वह जनहित अथवा सर्वहारा के पक्ष को अपनाना चाहते हैं बशर्ते कि सर्वहारा अपने अधिकारों के लिए न लड़े, जनता राज्यसत्ता को अपने हित में रचने के लिए उद्यत न हो। ये शर्तें पूरी न हुईं तो क्रान्ति फासिज्म की तरह महामारी और भूकम्प की तरह सब को तबाह कर देगी !

इसलिए पंतजी जिस वैज्ञानिक आदर्शवाद की बात कहते हैं, उसका विज्ञान से कोई संबन्ध नहीं है। वह जिस लोकतंत्र की बात कहते हैं, वह पूँजीवादी लोकतंत्र है जिसमें जनता सत्ता से वंचित रहती है। वह जिस जनहित अथवा सर्वहारा के पक्ष की बात कहते हैं, वह जनता अथवा सर्वहारा के विपक्षी वर्षों से कहते आये हैं।

पंतजी वैज्ञानिक आदर्शवाद या लोकतंत्र के पक्ष का समर्थन किस तरह करते हैं, यह उनकी कविताओं में बहुत स्पष्ट है। सामाजिक जीवन से अंतर्-मन की श्रेष्ठता घोषित करते हुए पंतजी कहते हैं—

“सामाजिक जीवन से कहीं महत् अंतर्मन जीवन,
वृहत् विश्व इतिहास, चेतना गीता किन्तु चिरंतन
भरदेगा भूखी धरती को अंतर्जीवन प्लावन,
मनुष्यत्व को करो समर्पित खंडित मन, कवलित तन !
तुच्छ नहीं समझो अपने को, तुम हो पृथिवीवासी,
फिर तुम भारतवासी जो, वसुधैव कुटुंब प्रकाशी;
देखो, माँ के अंचल में जो रत्न बँधा अविनाशी,
जगत तारिणी भरतभूमि, वह नहीं भिखारिन, दासी ।”

भूखी धरती क्या चाहती है ? अन्तर्जीवन प्लावन ! सामाजिक जीवन में
कष्ट पाने वाले मनुष्य क्या करें ? वे अपना खंडित मन मनुष्यत्व को समर्पित
करें । इस तरह भरतभूमि उन्हें ही न तारेगी, सारे संसार को भी तार देगी ।

पंतजी योगी अरविन्द से कहते हैं—

“आज लोक संघर्षों से जब मानव जर्जर,
अतिमानव बन तुम युग संभव हुए धरा पर !”

मानव लोक संघर्षों से जर्जर हो गया है । इन लोक संघर्षों से उसकी
रक्षा करने के लिए योगी अरविन्द का अवतार हुआ है । एक कल्पित सामंती
राज्य में जब प्रजा विरोध प्रकट करने लगती है और —

“इन्कलाब के तुमुल सिन्धुसा एक रोज हो उठा तरंगित,
वह छोटा सा राज्य क्रुद्ध जनता के आवेशों से नादित !”

तब पंतजी के मन में लोकसंघर्षों से जर्जर मनुष्य के प्रति सहानुभूति
उमड़ आती है और वह कह उठते हैं,—

“तंत्रमात्र से हो सकते न मनुज परिचालित,
उनके पीछे जब तक हो न चेतना विकसित ।
प्रजातंत्र के साथ राज्य रह सकते जीवित
जनजीवन विकास के नियमों से अनुशासित !”

पंतजी लोकसंघर्षों से राजा प्रजा दोनों की रक्षा करना चाहते हैं और दोनों
को ही शोषक-शोषित का भेदभाव भूलकर जीवन-विकास के नियमों से अनु-
शासित होने का उपदेश देते हैं ।

पंतजी की संस्कृति, उनका अन्तर्मन, चेतना आदि राजनीति से परे नहीं हैं। पंतजी की भी राजनीति है, उनकी कविताओं में वह राजनीति बहुत स्पष्ट दिखाई देती है, भले ही वह राजनीति को अपूर्ण कह कर साँस्कृतिक दृष्टिकोण से दुहाई दें। यह राजनीति ऐसी अपरिचित भी नहीं है। काँग्रेसी नेताओं ने सन् ४७ के पहले भी और सन् ४७ के बाद विशेष रूप से हम उसका महत्व-कीर्तन सुनते हैं। फिर पंतजी ने उसमें कौन सी नयी विशेषता पैदा कर दी है ?

पंतजी की विशेषता यह है कि जब यह राजनीति जनता में तिरस्कृत हो ही थी, तब उसे साँस्कृतिक लिबास पहना कर, मार्क्सवाद के लोकपक्ष से भारतीय संस्कृति का समन्वय करने के नाम पर उन्होंने बुद्धिजीवियों के एक हिस्से को उस राजनीति के असर में रखा। पंतजी का ऐतिहासिक महत्व यह है कि पूँजीवादी राजनीति छोड़कर जब अधिकाँश बुद्धिजीवी मजदूर वर्ग की साम्राज्य-विरोधी नीति की तरफ बढ़ रहे थे, तब पंतजी ने अपने को मार्क्सवाद का समर्थक कहकर हिन्दी साहित्य पर उस पूँजीवादी राजनीति का प्रसर कायम रखा। पंतजी ने यह काम “स्वर्ण किरण” और “स्वर्ण घूलि” में नया शुरू न किया था; यह काम वह पहले भी “युगान्त”, “युगवाणी” आदि में कर चुके थे। लेकिन दूसरे महायुद्ध के पहले जब काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने थे, तब पूँजीवादी नेतृत्व ऐसे सङ्कट में न था, जैसे इस महायुद्ध के बाद और फिर मन्त्रिमण्डल बनने पर हुआ। इसकी प्रतिध्वनि पंतजी की कृतियों में भी हुई। उनके समन्वय की रूप रेखा और भी स्पष्ट होकर सामने आई।

पंतजी के प्रगतिवादी प्रशंसकों की यह ऐतिहासिक भूमिका है कि जिस बात को हिन्दी साहित्य के पाठक—“तितली”, “गोदान”, “देवी” और “चतुरी चमार” के पाठक—आसानी से प्रगतिशील न मानते, उसे एक तक इन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दुहाई देकर उन्हें मनवा दिया, उस से कुछ लोगों को भ्रम में जरूर डाल दिया। यह भी अनिवार्य था कि पंतजी के समन्वय की आलोचना जो सन् ४७ से पहले छुट-पुट या मुँदी-की थी, वह सन् ४७ के बाद और तीव्र होकर सामने आई और प्रगतिशील

आलोचकों ही में पंतजी को लेकर दो मान्यताएँ चल पड़ीं। लेकिन अभी तक “स्वर्ण किरण” और “स्वर्ण धूलि” को प्रगतिशील रचनाएँ मानने वाले किसी आलोचक ने उनकी प्रगतिशीलता पर प्रकाश डालने का कष्ट नहीं किया, कारण यह कि उनकी प्रगतिशीलता पर प्रकाश डालने से खुद उसकी प्रगतिशीलता पर कम प्रकाश न पड़ेगा।

पंतजी इस समन्वयवाद के मसीहा हुए, इसका एक कारण है। छायावादी कवियों में पंतजी हिन्दी साहित्य के जातीय विकास से सबसे कम परिचित थे। निरालाजी ने “पल्लव” की आलोचना करते हुए पंतजी के उन उपकरणों पर यथेष्ट प्रकाश डाला था जिनसे पंतजी ने अपना काव्य-सौन्दर्य रचा था। पंतजी ने हिन्दी के पिछले साहित्य की तरफ “पल्लव” की भूमिका में एक नकारवादी दृष्टिकोण अपनाया था। उन्होंने रीतिकालीन कवियों पर जो आक्षेप किये थे, वे एक हद तक ठीक थे लेकिन भक्त कवियों के प्रति उनका दृष्टिकोण अन्याय पूर्ण था। उन्होंने लिखा था, “अधिकांश भक्त कवियों का सम्पूर्ण जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी में बह गए। बड़े परिश्रम से कोई पार भी गए तो ब्रज से द्वारका तक पहुँच सके, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई।”

ब्रजभाषा काव्य पर पंतजी के आक्षेपों के सम्बन्ध में निरालाजी ने लिखा था, “जिनके संस्कार बहुत कुछ अँग्रेजी कविता के साँचे में ढल जाते हैं, उन्हें ब्रजभाषा की कविता पसन्द नहीं आती, यह बहुत ठीक है। परन्तु यह भी ठीक है कि पंतजी ने ब्रजभाषा पर अपनी उदासीनता के कारण जो कटाक्ष किया है, वह कुछ ही अंशों में सत्य है।”

कविता के अलावा ब्रजभाषा की तरफ पंतजी का दृष्टिकोण हिकारत से मरा हुआ था, “मुझे तो उस तीन चारसौ वर्ष की वृद्धा के शब्द बिलकुल त्त-मौंस हीन लगते हैं; जैसे भारती की वीणा की झङ्कारें बीमार पड़ गई हों।” पंतजी की यह हिकारत ब्रजभाषा तक सीमित न रहकर हिन्दी भाषा लड़ी बोली तक जब तब पहुँच जाती है। जैसा कि विश्ववादिथों के साथ अक्सर होता है, वे अपनी से नफरत करते हैं तो अँग्रेजी भाषा और संस्कृति

के सामने दुम भी हिलाते हैं। पंतजी कुछ हिंदी-अंग्रेजी शब्दों के ध्वनि-सौंदर्य की तुलना करते हुए 'पल्लव' की भूमिका में लिखते हैं, "पंख शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता है; जैसे किसी ने पत्ती के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छुटपटाकर बारबार नीचे गिर पड़ता हो; अंग्रेजी का (wing) जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'touch' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। स्पर्श' जैसे प्रेमिका के अङ्गों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है; ब्रजभाषा के परस में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द का विद्युत-स्फुरन प्रकट होता है।"

पंतजी के शब्द-विज्ञान पर निरालाजी ने यह टिप्पणी की थी, "पंतजी की व्याख्या से जाहिर है, उनका मुकाबला अंग्रेजी शब्दों के तत्सम रूपों की ओर अधिक है और यह प्रयत्न ऐसा है जैसे भारतवर्ष की आबोहवा को अंग्रेजी दवाओं के अनुकूल बनाना।"

पंतजी में जातीयता विरोधी ये कॉस्मोपॉलिटन संस्कार 'पल्लव'-काल ही में थे, फिर भी वे तब तक पूरी तरह पल्लवित न हुए थे। इसके सिवा स्पर्श और हर्ष से प्रेमिका के अङ्गों के स्पर्श और आनन्द के विद्युत-स्फुरन की कल्पना भी वह किया करते थे। इसलिये 'पल्लव' की रचनाओं में यथेष्ट सौन्दर्य मिलता है।

"ग्राम्या" में पंतजी ने जनता के प्रति बौद्धिक सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाया और अनेक सुन्दर रचनाएँ कीं। "रूपाभ" में छायावाद के कल्पना लोक से धरती पर उतरने की घोषणा करने के बाद पंतजी ने एक नये मसीहा का रोल भी अख्तियार किया। अब वह मार्क्सवाद और भारतीय संस्कृति का समन्वय करने लगे। इस समन्वय में मार्क्सवाद को उन्होंने क्रान्ति और वर्ग-संघर्ष से ही मुक्त न किया, उपनिवेशों में उसकी साम्राज्यविरोधी संघर्ष की भूमिका से भी उसे मुक्त कर दिया था। भारतीय संस्कृति को उन्होंने हिन्दी

साहित्य की जनवादी परम्परा से ही मुक्त न किया बल्कि उसे भारतीय रूढ़िवाद और कांग्रेसी वर्ग-सहयोग की विशेष राजनीति से भी बाँध दिया। पंतजी के इस समन्वय को प्रगतिशील कहना वर्ग-सहयोग की राजनीति और भारतीय रूढ़िवाद को ही प्रगतिशील कहना है।

(२)

१९३६ की एक कविता में पंतजी महात्मा गान्धी को लक्ष्य करके कहते हैं, “निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अन्तिम दीपशिखोदय।”

और—

“पूर्ण पुरुष, विकसित मानव तुम, जीवन सिद्ध अहिंसक।”

पंतजी के लिए भारतीय संस्कृति क्या है, इन दो पंक्तियों से अच्छी तरह मालूम होता है। जो निर्वाणोन्मुख आदर्शों का प्रतीक है, वही पूर्ण पुरुष और विकसित मानव भी है।

“आधुनिक कवि” की भूमिका में पंतजी कहते हैं, “ज्योत्स्ना तक मेरे सौंदर्यबोध की भावना मेरे ऐन्द्रिक हृदय को प्रभावित करती रही है, मैं तब तक भावना ही से जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद मैं बुद्धि से भी संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ।”

शायद ! लेकिन ऊपर की पंक्तियों में निर्वाणोन्मुख आदर्शों में पूर्ण पुरुष का दर्शन यह साबित नहीं करता कि पंतजी को बुद्धि से संसार को समझने के नये काम में विशेष सफलता मिली है।

उसी भूमिका में पंतजी कहते हैं, “ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्दर श्रम-जीवियों के संगठन, वर्गसंघर्ष आदि से सम्बन्ध रखने वाले वास्तविक को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अङ्ग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से मानवता एवं सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदान्त में मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी।”

दूसरे शब्दों में पंतजी ने ऐतिहासिक भौतिकवाद का अध्ययन वेदान्ती दृष्टिकोण से किया। यह कहना कठिन है कि जिस तरह उन्होंने संसार को बुद्धि से समझने की कोशिश की, उसी तरह ऐतिहासिक भौतिकवाद और वेदान्त को भी बुद्धि से समझने की कोशिश की या नहीं।

भारतीय दर्शन की विशेषता बतलाते हुए पन्तजी लिखते हैं, “भारतीय तत्त्वद्रष्टा, शायद अपने सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान (योग) के कारण सापेक्षता के उस पार सफलता पूर्वक पहुँचकर ‘तदंतरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः’ सत्य की प्रतिष्ठा कर सके हैं।”

इसलिए भारतीय तत्त्वद्रष्टाओं ने जहाँ सूक्ष्म नाड़ी-विज्ञान से काम न लेकर प्रत्यक्ष व्यवहार से संसार को समझने की कोशिश की है, वहाँ वे तत्त्व-द्रष्टा नहीं रह गये, वहाँ उनका दर्शन दर्शन नहीं रहा ! इसलिए पन्तजी के लिए भारतीय दर्शन की उस विचारधारा का कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं रहता जो इस सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान (योग) का विरोध करती रही है। संस्कृति की इतनी रट लगाने के बाद पन्तजी प्राचीन दर्शन के प्रगतिशील तत्वों को आसानी से छोट कर फेंक देते हैं। भक्त कवियों के प्रति उनकी जो धारणा रही है, उसे हम ऊपर देख चुके हैं। छायावाद का भी महत्व उनकी नजर में किस कारण रहा है, यह भी देख लीजिये। “आधुनिक कवि” की भूमिका में वह कहते हैं, “द्विवेदी युग के काव्य की तुलना में छायावाद इसीलिए आधुनिक था कि उसके सौंदर्य-बोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था और उसका भाव-शरीर द्विवेदी युग की काव्य परम्परा से पृथक् हो गया था।”

साहित्य की परम्परा की तरफ पंतजी का दृष्टिकोण जातीयता का बहिष्कार करके चलता है। वह एक तरफ को निर्वाणोन्मुख आदर्शों को पूजने के कारण रूढ़िवादी है, दूसरी तरफ संस्कृति के प्रगतिशील तत्वों को अस्वीकार करके अंग्रेजी भक्त होने के कारण कॉस्मोपॉलिटन है। इस दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति की न तो रक्षा होती है, न उससे उसका विकास संभव है। रक्षा तभी संभव है जब हमारे सामने यह स्पष्ट हो कि रक्षा किससे करनी है। हमें भारतीय संस्कृति के प्रगतिशील तत्वों की रक्षा करनी है, भारतीय रूढ़िवाद से और

पच्छिम की पतित पूँजोवादी संस्कृति के प्रभाव से। उसका विकास हम कर सकते हैं, जनता के हितों को अपनी कसौटी बनाकर, सत्य को व्यवहार द्वारा परखने की वैज्ञानिक प्रणाली अपनाकर।

पन्त जी का दृष्टिकोण जनसाधारण को यह श्रेय नहीं देता कि उसने भी गद्दा के योग्य कोई सांस्कृतिक तत्त्व रचे हैं। भारत के साधारण जन उनके लिए “मूढ़, असभ्य, अशिक्षित निर्धन” हैं। अशिक्षित और निर्धन अवश्य लेकिन मूढ़ और असभ्य नहीं। इस तरह के विशेषणों का प्रयोग साम्राज्यवादी करते रहे हैं, न कि देशभक्त कवि। पन्त जी का कॉस्मोपॉलिटन दृष्टिकोण जहाँ छायावाद को अँग्रेजी साहित्य से प्रभावित होने के कारण गौरवशाली मानता है, वहाँ जनता को अँग्रेजों की तरह मूढ़ और असभ्य मानता है। तब अगर अँग्रेज कहें कि हम असभ्य भारतवासियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाने आये हैं तो उसमें बेजा क्या है ?

“ग्राम्या” की भूमिका में पन्तजी ने ग्रामीणों को अपनी बौद्धिक सहानुभूति ही क्यों दी है, इसकी व्याख्या उन्होंने “आधुनिक कवि” की भूमिका में की है। वह व्याख्या यह है कि “मैंने ग्राम जनता को रक्त मांस के जीवों के रूप में नहीं देखा है। एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव स्वरूप देखा है, और ग्रामों को सामंत युग के खंडहर के रूप में।” यदि मुझे सामंत युग की संस्कृति के पुनर्जागरण पर विश्वास होता तो जनता के संस्कारों के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति भी होती। “जहाँ आलोचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता है वहाँ केवल भावुकता और सहानुभूति से कैसे काम चल सकता है ?”

बौद्धिक सहानुभूति तक सीमित रहने के पक्ष में पन्तजी ने जो दलील दी है, उसका आविष्कार करने में उन्होंने निश्चय ही बुद्धि पर काफी जोर दिया है। प्रश्न यह है कि उनकी बौद्धिक सहानुभूति किस की तरफ है ? क्या मरणोन्मुखी संस्कृति की तरफ ? सामंत युग की संस्कृति की तरफ ? अगर नहीं तो वह कौन सी वस्तु है जिसे पन्तजी बौद्धिक सहानुभूति तो दे सकते हैं लेकिन जिसे हार्दिक सहानुभूति देना भावुकता हो जाता है। अगर ग्रामीणों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति रखना सामंती संस्कृति से बौद्धिक सहानुभूति रखना नहीं है तो वे बेचारे ग्रामीण हार्दिक सहानुभूति से ही क्यों वंचित रह जाते हैं ?

उल्टा ग्रामीणों से उन्हें जितनी ही सहानुभूति होगी, उतना ही वे उन्हें सामंती संस्कृति के प्रभाव से मुक्त करने के लिये संघर्ष करेंगे। लेकिन पंतजी की पूर्ण सहानुभूति बौद्धिक और हार्दिक सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान के साथ है, निवाणोंन्मुख आदर्शों के प्रतीक के साथ है; फिर ग्रामीणों के साथ, विशेष कर उन ग्रामीणों के साथ जो निरक्षरता और निर्धनता में पड़े रहने से इंकार करते हैं, उनकी सहानुभूति कैसे रह सकती है ?

जिस दृष्टिकोण से पंतजी को ग्रामीण जन मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव रूप ही दिखाई देते हैं, रक्त माँस के जीव नहीं, उस दृष्टिकोण की बौद्धिकता की दुहाई है। जैसे पीलिया के रोगी को सब कुछ पीत और रक्तहीन ही दिखाई देता है, वैसे ही रूढ़िवाद के उपासक कवि पंत को ग्राम जनता रक्त-माँसहीन मृत संस्कृति का अवयव मात्र दिखाई देती है। यदि पंतजी ने इस रक्तमाँसहीन संस्कृति को ज़रा नज़दीक से देखा होता, उसके बिरहे, कहरवा, कजली, होली आदि लोकगीतों को सुना होता, निराला की शूर्पनखा की तरह “डाल अवज्ञा की दृष्टि” के बदले जनगीतों और लोक कथाओं में भारतीय संस्कृति का अजेय आशा-स्वर सुना होता तो उनकी कविता संस्कृति शब्दों के निरर्थक प्रयोग से इतनी बोझिल न होती, अपनी “बौद्धिक सहानुभूति” (या सहानुभूति के अभाव) का समर्थन करने के लिये उन्हें बुद्धि पर इतना जोर न देना पड़ता। लेकिन जन-संस्कृति का निरादर उसी कॉस्मोपॉलिटन दृष्टिकोण की विशेषता है जो भारतीय दर्शन, भक्तिकाल और छायावाद की प्रगतिशील विरासत को अपनाते से इन्कार करता है।

“आधुनिक कवि” की भूमिका में पंतजी ने ठीक लिखा है कि “प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य संगीत भी खो बैठते हैं, उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है।” विशेष कर भारत का सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान अपनी उपयोगिता और सौन्दर्य कभी का खो चुका है। उसे सजाने के लिये तो विशेष अलङ्कारों की आवश्यकता पड़ती है। उन अलङ्कारों का यथेष्ट चमत्कार “स्वर्ण किरण” “स्वर्णधूलि”, “उत्तरा”, “रजत शिखर” आदि में देखने को मिलता है। पंतजी ने दार्शनिक सत्य का उद्घाटन करने के लिए नये प्रतीक चुने हैं जैसे

कौआ, उल्लू और चमगादड़ । “कोवे के प्रति” कविता में वह उस सुन्दर पक्षी को “भविष्य वक्ता जगविश्रुत” कहते हैं और इनके साथ “मन्त्री वृद्ध तुम्हारे कौशिक दिवाभीत चमगादर” । उनके काव्य की चित्रमयता “अर्थ विवृत जघनों पर” सिर रखने, “वक्षोजों के खुले घटों पर” हाथ रखने, “चिर अधखुले उरोजों पर” उड्डाण के जलने, जघनों के माणिक सर में स्वर्णवाष्प का घन लटकने आदि में प्रकट हुई है । ‘रजत शिखर’ में स्वर्ण भृङ्गों ने और भी उन्नति की है, “कुसुम योनियाँ चूम गंध रज, गर्भ दान दे ।” अवश्य ही इन भृङ्गों को हम किसी का प्रतीक न कहेंगे ।

प्राचीन विचार और जीर्ण आदर्श जब अपनी उपयोगिता और सौन्दर्य खो बैठते हैं, तब उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है । यही नहीं, जो नये विचार और प्राणवान आदर्श उनका मुकाबला करते हैं, उन्हें अनुपयोगी और असुन्दर कह कर कोसने की जरूरत भी पड़ती है । “उत्तरा” की भूमिका में पन्तजी भौतिकवाद को अन्धकारमय बतलाते हुए कहते हैं, “और विशेषकर मार्क्स-वादी भौतिकता के अन्धकार में और कुछ भी न सूझने के कारण (मन) गुण तथा संस्कृति (सामूहिक अन्तर्चेतना) आदि को पदार्थ का बिब रूप, गौण स्तर या ऊपरी अतिविधान कह कर उड़ा देना चाहते हैं ।”

प्राचीन अध्यात्मवादियों और यांत्रिक भौतिकवादियों की तरह पन्तजी के लिये मनुष्य की चेतना वस्तु जगत् का अङ्ग न होकर उससे भिन्न और निरपेक्ष सत्ता है । इसलिये मनुष्य का दिमाग—ऐसा पदार्थ जिसमें सोचने का गुण भी हो—उनकी कल्पना से परे है । मार्क्सवाद चेतना को अस्वीकार नहीं करता लेकिन उसे वस्तुजगत् से निरपेक्ष नहीं मानता । पन्तजी के लिये मनुष्य के विचार उसके मन में बाह्य जगत् का प्रतिबिम्ब नहीं हैं वरन् उनकी स्वतंत्र सत्ता है । इसलिए सापेक्षता के साथ बँधा हुआ मनुष्य का ज्ञान जो निरपेक्ष सत्य को पाता हुआ उसे पूरी तरह नहीं समेट लेता कि सत्य का अन्त हो जाय, यह मानव ज्ञान की द्वन्द्वात्मक प्रगति पन्तजी को पसन्द नहीं है । वह अध्यात्मवाद की महत्ता इस बात में मानते हैं कि वह मनुष्य को एकबारगी पूर्ण सत्य के दर्शन करा देता है । उनके लिये मनुष्य की चेतना विकासमान नहीं है, वह पूर्ण और गतिहीन है, सिर्फ माया का भ्रम दूर करके उसे पहचानना

भर बाकी है। “कला तथा संस्कृति” नामक निबन्ध में वह कहते हैं, “आप क्षणभंगुर के अवगुंठन को हटा कर मानव-चेतना के शाश्वत मुख के भी दर्शन कीजिये।” वही पुरानी बात लेकिन कितने तूल-तबील के बाद।

इस शाश्वत मुख को देखने के बाद पंतजी को वैज्ञानिक भौतिकवाद के जन्मदाता मार्क्स और एंगेल्स विशेष रूप से जुद्ध मालूम होते हैं। “उत्तरा” की भूमिका में रागद्वेष से परे रहने वाले शाश्वत सत्यवादी पंतजी कहते हैं, “सहस्रों वर्षों से अध्यात्म दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झुंझारों से रहस्यमय निनादित भारत के एकान्त मनोगगन में मार्क्स तथा एंगिल्स के विचार-दर्शन की गूँजें बौद्धिकता के शुभ्र अन्धकार के भीतर से रेंगने वाले भीगुरों की रुंधी हुई झुंझारों से अधिक स्पंदन नहीं पैदा करतीं।”

पंतजी का कोप मार्क्स और एंगेल्स के दर्शन की सत्यता ही प्रमाणित करता है। साम्राज्यवाद के संकट-काल में संस्कृति के पूँजीवादी नेता पैरों के नीचे से धरती खिसकते देखकर आपे से बाहर हो जाते हैं। उनकी यह दयनीय वस्तुगत परिस्थिति उनके मन में प्रतिबिम्बित होती है। वे मार्क्स और एंगेल्स की तुलना भीगुरों से करने लगते हैं। पंतजी के ये विचार किसी शाश्वत चेतना का परिणाम न होकर उनके भौतिक जीवन का ही प्रत्यक्ष परिणाम है।

पंतजी ने जब “ज्योत्स्ना” नाटिका लिखी थी तब उसके अभिनय की बात चलने पर एक कठिनाई आई थी कि भीगुर और उल्लू के पार्ट किसे दिए जायँ। पंतजी के एक सुहृद कवि ने यह कह कर इस समस्या को हल किया था कि “ज्योत्स्ना” के प्रकाशक और लेखक इन पाटों को आपस में बाँट लें। वह बात कितनी सार्थक थी, यह “उत्तरा” की भूमिका पढ़ने पर अच्छी तरह मालूम हो जाता है।

पंतजी की संस्कृति शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। उनके लिए राजनीतिक विचार संस्कृति का अङ्ग नहीं हैं बल्कि उससे भिन्न हैं। पंतजी यह देख कर अप्रसन्न होते हैं कि उनके कुछ आलोचक “अपने सांस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं अपने राजनीतिक विचारों में कम्युनिस्ट भी हैं।” कोई मार्क्सवादी कम्युनिस्ट भी हो, इससे ज्यादा आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है ?

पंतजी के लिए वस्तुवाद की कमी इस बात में है, “तथोक्त वस्तुवाद कर्ता या कर्मों का दृष्टिकोण है जिसके लिए गोचर वस्तु ही यथार्थ तथा प्रधान है, आदर्श उसी का विकास या परिणति।” वस्तुवाद के लिए गोचर वस्तु प्रधान है लेकिन कर्ता या कर्मों उसके लिए अगोचर कब है ? इसलिए आदर्श भी अगोचर न होकर इसी यथार्थ जगत् में प्रतिफलित होता है।

पंतजी आगे कहते हैं, “वस्तु से उसका विधायक या निर्माता का संबंध होने के कारण वह उसकी यथार्थता को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता एवं उसी को सत्य मानता है।” मानों खुद अपने को अवास्तविक, असत्य मानता हो।

अगोचर सत्य की व्याख्या करते हुए पंतजी कहते हैं, “किंतु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनों से अतिशय तथा ऊपर भी है,—सूक्ष्म स्थूल रूप या बिंब प्रतिबिंब मान लें तो दोनों दृष्टिकोणों में सहज ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।”

पंतजी का सत्य अव्यक्त है तो विकासशील कैसे है ? या उसका विकास अग्रकट ही रहता है ? यदि वह शाश्वत और पूर्ण है तो भी उसके विकासशील होने की संभावना नहीं है। विकास केवल मनुष्य के भ्रम दूर होने में हो सकता है। यदि वह सत्य सूक्ष्म और अगोचर है तो वह किस में प्रतिबिंबित होता है और किसी वस्तु का प्रतिबिंबित होना उसकी गोचरता का लक्षण है या अगोचरता का ?

लेकिन पंतजी की चेतना एकदम अभौतिक नहीं है। उसके कई स्तर हैं जिनमें “पदार्थ विज्ञान द्वारा हमने केवल चेतना के निम्नतम भौतिक धरातल पर ही प्रकाश डाला है।” “परिस्थितियों की सक्रियता के अनुपात में हमारे मन तथा चेतना के सापेक्ष स्तर प्रबुद्ध तथा अंतःसङ्गठित न हो सकने के कारण” युद्ध आदि हुए। आश्चर्य है कि सापेक्ष ज्ञान को चुनौती देने वाली पंतजी की चेतना के भी सापेक्ष स्तर हैं। पंतजी के लिए मन भी एक नहीं, दस बीस हैं। ऊधो से “मन न भए दस बीस” की शिकायत करने वाली गोपियों की समस्या पंतजी ने हल करदी है। “एकता का सिद्धांत अन्तर्मन का सिद्धांत

है, विविधता का सिद्धान्त बहिर्भन तथा जीवन के स्तर का ।

प्रश्न यह है कि यह बहिर्भन जीवन के स्तर पर है तो क्या अन्तर्भन कहीं मृत्यु के स्तर पर विद्यमान है । एकता और विविधता का ऐसा विभाजन क्या संसार में दिखाई देता है । विविध शब्दों से एक कविता, विविध कविताओं से एक साहित्य, विविध साहित्यों से एक विश्व साहित्य आदि की द्वन्द्वात्मक एकता क्या प्रत्यक्ष जीवन में प्रमाणित नहीं होती ! पंतजी की तर्क-प्रणाली क्या पुराने मेटाफिजिकल ढंग की नहीं है ।”

पंतजी लिखते हैं, ‘हमारी गौतम और गाँधीजी की ऐतिहासिक भूमि है । भारत का दान विश्व को राजनीतिक तंत्र या वैज्ञानिक यंत्र का दान नहीं हो सकता, वह संस्कृति तथा विकसित मनोयंत्र की ही भेंट होगी ।”

विकसित मनोयंत्र ! फिर विकास की बात और वह भी मन को यंत्र मान हर ? पंतजी भारतीय रुढ़िवादी ही नहीं है, यांत्रिक भौतिकवादी भी हैं । इस विकसित मनोयंत्र का दूसरा नाम अहिंसा है, “अहिंसा मानवीय सत्य का ही सक्रिय गुण है । अहिंसात्मक होना व्यापक अर्थ में संस्कृत होना, मानव बनना है ।”

यह मानवीय सत्य शाश्वत है या परिवर्तनशील और विकासमान ? सक्रियता देशकाल-सापेक्ष है या देशकाल से परे अनादि, अनन्त और अशो-र ? पंतजी ने अध्यात्मवाद का गुण कीर्तन करने के बाद सम तोड़ा सत्य के सक्रिय गुण पर । यदि यह अहिंसा गुणातीत नहीं है तो उसे प्रत्यक्ष जीवन में अतिरिक्त होना चाहिए । अहिंसा के गुण को कौन लाठी-गोली से खण्डित करता है ? पंतजी को अहिंसा के लिये भय शासक वर्ग से नहीं दिखाई देता; अहिंसा का नाश होता उनसे दिखाई देता है जो हिंसा बर्दाश्त करने के लिये तैयार नहीं हैं ।

इस तरह पंतजी की संस्कृति राजनीति से परे न होकर एक विशेष तरह की राजनीति का ही दूसरा नाम है । यह राजनीति शासकवर्ग की हिंसा पर दाँ डालती है, पीड़ित जनता के विरोध को हिंसा कह कर उसे विरोध करने । रोकती है । पंतजी की संस्कृति का कार्यालय हिन्दुस्तान ही में है । वह चाहते हैं कि “भारत एक नवीन मनुष्यत्व के आदर्श में बँधकर, तथा अपने

बहिर्न्तर जीवन को नवीन चेतना के सौन्दर्य में सङ्गठित कर महासृजन एवं विश्व निर्माण का एक विराट् कार्यालय बन जाय ।”

महासृजन का विराट् कार्यालय जिसमें करोड़ों मनुष्य आधे पेट रहकर नित्य तपस्या करते हैं और अकाल मृत्यु के ग्रास बन कर निर्वाणपद को प्राप्त करते हैं, यह भारत साम्राज्यवाद का विराट् मृत्यु कार्यालय भी है जिसमें असंख्य नरनारी तिलतिलकर घुलते हुए प्राण दे चुके हैं । अब वे अपना सामाजिक-जीवन नये ढंग से संगठित करना चाहते हैं तो पंतजी अंतर्मन के संगठन को प्रधान और संस्कृति को जीवन-संघर्ष से परे कहने लगते हैं । लिखा है, “संस्कृति, सौंदर्य-बोध आदि हमारे अन्तर्मन के संगठन हैं । संस्कृति को मात्र वर्गवाद की दृष्टि से देखना एवं बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित अतिविधान मानना केवल वाद-ग्रस्त बुद्धि का दुराग्रह है ।”

जैसा कि हम देख चुके हैं, पंतजी की संस्कृति न तो वर्गों से परे है, न परिस्थितियों से । वह कोई आग्रहहीन वाद नहीं है, केवल आग्रह सर्वहारा वर्ग का न होकर पूँजीवादी वर्ग का है । मानो मार्क्सवाद यह कहता हो कि परिस्थितियों को बदलो और अपने को न बदलो, पंतजी तर्क करते हैं, “ऐसा नहीं समझना चाहिये कि स्थूल के संगठन से सूक्ष्म अपने आप संगठित हो जायगा जैसा कि आज का भौतिक दर्शन या मार्क्सवाद कहता है ।”

स्थूल का संगठन कौन करेगा ? या वह अपने आप संगठित हो जायगा ? मनुष्य अपने जीवन की परिस्थितियों को बदलता हुआ अपने को भी बदलता है । एक को बदल कर दूसरे को छोड़ देना पंतजी का तर्क है, मार्क्सवाद का नहीं । स्थूल को बदलने के लिये स्थूल जगत में संघर्ष होता है; सूक्ष्म को बदलने के लिये विचारधारा में संघर्ष होता है । पंतजी इस संघर्ष में किसके साथ हैं ?

पंतजी अपने सत्य को संघर्ष से ऊपर रखना चाहते हैं । वह पक्षपात से परे रहने का आदेश देते हुए कहते हैं, “आप क्षणभंगुर के अवगुंठन को हटाकर मानव चेतना के शाश्वत मुख के भी दर्शन कीजिये । तब आप वास्तविक अर्थ में जीवन-द्रष्टा तथा सौंदर्य-सृष्टा बन सकेंगे । अन्यथा आप व्यक्ति-समाज के बीच, भिन्न-भिन्न वर्गों, गिरोहों के बीच, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों,

शक्ति-लोलुप संगठनों तथा नैतिक दृष्टिकोणों के बीच चलने वाले संघर्ष के प्रचारक मात्र बन जायेंगे; और अपने स्वभाव, रुचि तथा परिस्थितियों के अनुरूप एक या दूसरे पक्ष का समर्थन कर अपने स्रष्टा के कर्तव्य से च्युत हो जाएँगे।”

पंतजी का वास्तविक अर्थ जीवनसंघर्ष से परे रहना है। वह वर्गों और नैतिक दृष्टिकोणों से ऊपर उठ कर सौंदर्य देखने का आग्रह करते हैं। लेकिन यह तटस्थता का सिद्धान्त खुद एक वर्ग का सिद्धान्त है। यह वर्ग अपने जन-विरोधी हितों को ढँकने के लिये तटस्थता का अभिनय करता है। पंतजी नैतिक दृष्टिकोणों के संघर्ष से तटस्थ नहीं हैं बल्कि सर्वहारा वर्ग के नैतिक दृष्टिकोण का विरोध करके पूँजीवादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। उनका यह भय अकारण नहीं है कि लोग उनके समन्वयवाद को प्रगतिशील मानने से इन्कार करते हैं। अपने दृष्टिकोण की सफाई देते हुए पंतजी कहते हैं, “मेरा मन यह नहीं स्वीकार करता कि मैंने अपनी रचनाओं में, जिस सांस्कृतिक चेतना को वाणी दी है, एवं जिस मनः संगठन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, उसे किसी भी दृष्टि से प्रतिगामी कहा जा सकता है।”

दूसरे महायुद्ध के पहले जब काँग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बने थे, तब से ‘उत्तरा’ के लिखने तक जनता की चेतना और उसके साथ हिंदी जनता की चेतना में काफी परिवर्तन हो गया है। अन्तर्चेतनावादी पंतजी से सामाजिक चेतना के ये परिवर्तन छिपे नहीं हैं। लेकिन वे इस नयी सामाजिक चेतना से सहाय-भूति नहीं रखते—न बौद्धिक न, हार्दिक। वह अपने पुराने समन्वयवाद को नया जामा पहना कर फिर हिंदी पाठकों से कहते हैं—मैं प्रतिगामी नहीं हूँ। लेकिन मार्क्सवाद का कौन-सा विरोधी अपने को प्रतिगामी मानता है? उन का व्यवहार उनकी प्रतिगामिता प्रकट कर देता है। पंतजी यदि अपने अन्तर्-चेतनावाद से लोगों को बहलाना चाहते हैं तो कुछ दिन कोशिश करके और देख लें।

साहित्य और यथार्थ

(१)

अपनी कविता पुस्तक “कासि” की भूमिका में श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन ने एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखकर मार्क्सवाद को जड़वादी दर्शन साबित किया है और कासि की ढेर को भारतीय संस्कृति की मर्मवाणी बतलाया है। लेकिन उनकी आलोचना एकाङ्गी नहीं है। वह शत्रु के साथ भी न्याय करने में विश्वास करते हैं। इसलिये फायरबाख पर मार्क्स का पहला सूत्र उद्धृत करके वह गद्गद् कंठ से कहते हैं, “मैं जब फ्योरबाख सम्बन्धी, ऋषि मार्क्स के ये सूत्र पढ़ता हूँ तो उनकी स्मृति में मेरा मस्तक झुक जाता है। कितनी प्रखर मेधा। कितना महान् उनका स्पष्ट दर्शन सामर्थ्य !! कितनी गहर गंभीर मौलिकता !!!”

आजकल ऐसे ईमानदार भौतिकवाद-विरोधी कम मिलते हैं जो मार्क्स की स्मृति में श्रद्धा से अपना सिर इतना नीचे झुका दें। इसलिये नवीन जी के श्रद्धानत शीश के सामने हमारा सिर और भी नीचे अपने आप झुक जाता है।

नवीन जी ने मार्क्सवाद में क्या पाया है जिससे उनका सिर यों झुक गया है ?

उनके अनुसार मार्क्स ने पदार्थवादी दर्शन के लिये यह कर्तव्य निश्चित किया है कि “वह प्रत्येक दिशा में मानवजीवन को शुभ की ओर परिवर्तित करने की प्रेरणा करता रहे।”

अगर परिवर्तित करने का मतलब यहाँ पर परिवर्तित करने, बदलने का है तो मानना होगा कि मानव जीवन कोई अखण्ड अपरिवर्तनशील इकाई नहीं है वरन् देशकाल में स्थित एक ऐतिहासिक क्रम है जिसमें विकास और परिवर्तन होता रहता है। लेकिन अगर मानव का अर्थ परमात्मा का अंश हो, तो मानव जीवन के परिवर्तित होने का मतलब बदलना न होकर—एक ऐतिहासिक क्रम न होकर—परमात्मा के दर्शन करना, आत्मरूप को पहचानना

आदि ही होगा। नवीन जी मानव के बारे में कहते हैं, “हमारे साहित्य-मनीषियों और तत्त्वदर्शियों ने मानव को जो परमात्मा-अंश के रूप में माना है, वह कोई यों ही उन्माद-प्रलाप मात्र नहीं है।”

यदि मानव परमात्म-अंश है, तब साहित्य (या दर्शन) का उद्देश्य क्या होना चाहिये ?

नवीन जी कहते हैं, “इस मानव को मुक्ति का सन्देश और इसे—अर्थात् अपने को भी बन्धन पाश से छुड़ाने का सन्तत प्रयत्न करते जाना यही भारतीय साहित्य का चरम, अन्तिम, परम उद्देश्य है।”

इससे स्पष्ट है कि मानव जीवन को परिवर्तित करने की बात पर नवीन जी को भरोसा नहीं है। वह आत्मा को बंधन-पाश से मुक्त करना चाहते हैं, न कि उसे परिवर्तित करना।

परिवर्तन से मिलता-जुलता एक शब्द और है प्रवर्तन। अगर नवीनजी के वाक्य का पाठान्तर सम्भव हो तो परिवर्तित की जगह प्रवर्तित पढ़ने से यह बात समझ में आ जाती है कि जो व्यक्ति साहित्य का उद्देश्य आत्मा को बंधनों से छुटकारा दिलाना मानता है, वह दर्शन का उद्देश्य आत्मा को राम की ओर प्रवर्तित करना भी मान सकता है। तब अपरिवर्तनशील परमात्म-अंश को परिवर्तित करने की असङ्गति समाप्त हो जायगी।

दर्शन और दार्शनिकों का कर्तव्य क्या है, इस बारे में खुद मार्क्स ने दुविधा की गुंजाइश नहीं छोड़ी। फायरबाख़ पर उनका अन्तिम और विश्व-प्रसिद्ध सूत्र है : “The philosophers have only interpreted the world differently, the point is to change it.”

“दार्शनिक अलग-अलग तरह से दुनिया की व्याख्या ही करते रहे हैं, मुख्य बात है उसे बदलने की।”

मार्क्स संसार को बदलने की बात कहते हैं, मानव जीवन को परिवर्तित करने की बात कहते हैं। वह आत्मा को भौतिक जीवन के बन्धनों से मुक्त करके परमात्मा में लीन होने को नहीं कहते, वह इस भौतिक जगत् में ही वर्तमान मानव-जीवन को परिवर्तित करने की बात कहते हैं।

संसार को बदलने के लिये यह ज़रूरी है कि हम उसे जानें। लेकिन यह जानने का काम संसार से अलग शुद्ध चेतना की क्रिया है या खुद भी एक साँसारिक, वस्तुगत क्रिया है? मार्क्स का कहना है कि संसार की वे तमाम वस्तुएँ ही यथार्थ नहीं हैं जिन्हें हम इन्द्रियों से जानते-पहचानते हैं, यह जानने-पहचानने का काम भी उस यथार्थ में शामिल है। इसलिए ज्ञान—जानना—एक वस्तुगत क्रिया है, बाह्य जगत् से अभिन्न। फायरबाख की आलोचना करते हुए मार्क्स ने उसी पहले सूत्र में साफ लिखा है, “he does not understand human activity itself as objective activity.” (“उसके लिये खुद मानव-कर्म अपने में वस्तुगत कर्म नहीं हैं।”)

इसका नतीजा यह होता है कि फायरबाख मनुष्य के चिंतन को उसके कर्म से अलग कर देता है, ज्ञान को श्रेष्ठ और कर्म को दास मान बैठता है। “He therefore does not comprehend the significance of ‘revolutionary’, of ‘practical-critical’ activity” (“इसलिए वह ‘क्रान्तिकारी’, ‘अमली आलोचनात्मक’ कार्यवाही का महत्व नहीं समझता”)।

मार्क्स ने फायरबाख की जो आलोचना की है, उसका निचोड़ यह है कि वह क्रान्तिकारी कार्यवाही के महत्व से इन्कार करता है।

नवीनजी ने एक दूसरे कारण से मार्क्स द्वारा की हुई फायरबाख की आलोचना की तारीफ़ की है। वह कहते हैं, “मार्क्स की दृष्टि में दर्शन का काम सामाजिक चेतना को जाग्रत, प्रभावित और चालित करना है। अतः इतना कह देना-भर ही अलम् नहीं है कि इन्द्रिय-ग्राह्य बहिर्जगत् के अतिरिक्त जो कुछ है वह अयथार्थ (Unreality) है।”

मतलब साफ़ है। नवीनजी के अनुसार मार्क्स के लिये यथार्थ इन्द्रिय-ग्राह्य बहिर्जगत् के “अतिरिक्त” भी है। लेकिन मार्क्स ने फायरबाख में इस “अतिरिक्त” ही की आलोचना की है। फायरबाख और उसके पहले के भौतिकवादी इन्द्रियग्राह्य बाह्यजगत् को तो यथार्थ मानते थे लेकिन मानव के इन्द्रियबोध को, उसके कर्म को यथार्थ से अलग कर देते थे।

मार्क्स के वाक्य का जो अनुवाद नवीनजी ने किया है, उससे भी यह

बात साफ़ हो जाती है। फायरबाख और उससे पहले के भौतिकवाद की न्यूनता क्या है ? न्यूनता यह है कि उसने यथार्थ को “सेन्द्रिय मानवीयक्रिया के रूप में हृदयङ्गम नहीं किया”, उसे “व्यावहारिकता के रूप में स्वीकृत नहीं किया।”

इसलिये इन्द्रियग्राह्य बहिर्जगत् से “अतिरिक्त” किसी यथार्थ का सवाल नहीं उठता। सवाल है, जिसे हम यथार्थ के “अतिरिक्त” समझते हैं, उसे यथार्थ का ही अङ्ग समझने का। इसलिये कर्म के बिना यथार्थ नहीं बदलता; कर्म के बिना मनुष्य—जो यथार्थ से “अतिरिक्त” नहीं है—वह भी नहीं बदलता।

मनुष्य के चिन्तन को उसकी क्रियाओं से अलग शुद्ध चेतन रूप में देखना आदर्शवादियों का परिचित सिद्धान्त है। इसी के लिए मार्क्स ने फायरबाख की आलोचना की थी। नवीनजी मार्क्स पर वह आदर्शवादी सिद्धान्त—इन्द्रियग्राह्य बहिर्जगत् से “अतिरिक्त” यथार्थ को स्वीकार करने का सिद्धान्त—आरोपित करके उसकी “प्रखर प्रतिभा, गंभीर विचार शक्ति एवं गहन मौलिकता” की प्रशंसा करते नहीं अघाते। मार्क्स में इन्द्रियग्राह्य बहिर्जगत् के “अतिरिक्त” एक और यथार्थ ढूँढ़ निकालने के लिए हमें नवीनजी की ही प्रखर प्रतिभा की दाद देनी होगी, उन्हीं की गम्भीर विचार-शक्ति एवं गहन-मौलिकता को साधुवाद देना होगा। मार्क्स उस सब के अधिकारी साबित नहीं होते।

नवीनजी ने अपनी व्याख्या को सरल बनाने के लिए फायरबाख पर मार्क्स के पहले सूत्र का एक ही वाक्य उद्धृत किया है। उस सूत्र में चार वाक्य और हैं, जिनमें मार्क्स ने फायरबाख और तब तक के भौतिकवाद की कमजोरी को स्पष्ट कर दिया है और अपने सूत्र को क्रान्तिकारी, अमली कार्यवाही पर जोर देते हुए समाप्त किया है। नवीनजी को शायद मनुष्य की अमली क्रान्तिकारी कार्यवाही से दिलचस्पी नहीं है। शायद चारों वाक्य उद्धृत करने से मार्क्स का वह “कितना अद्भुत, कितना भव्य निष्कर्ष” निकलता जो उन्होंने निकाला है। भला अमली कार्यवाही से “स्पष्ट दर्शन सामर्थ्य” और “गहर गम्भीर मौलिकता” का क्या सम्बन्ध ?

मार्क्स फायरबाख पर अपने दूसरे सूत्र में कहते हैं : "The question whether objective truth is an attribute of human thought—is not a theoretical but a practical question. Man must prove the truth, i.e. the reality and power, the 'this sidedness' of his thinking in practice. The dispute over the reality or non-reality of thinking that is isolated from practice is a purely scholastic question." ("यह सवाल कि वस्तुगत सत्य मनुष्य के चिन्तन का एक लक्षण है—सैद्धान्तिक सवाल न होकर एक अमली सवाल है। मनुष्य को सचाई अर्थात् अपने चिन्तन की वास्तविकता और शक्ति, उसकी "इह लौकिकता" अमल से साबित करनी चाहिये। अमल से अलग करके चिन्तन की वास्तविकता या अवास्तविकता पर झगड़ा करना शुद्ध शास्त्रों वाला झगड़ा है।")

नवीनजी ने अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका में मार्क्स की इस चुनौती को कहीं भी स्वीकार नहीं किया। अमल, कर्म, क्रान्तिकारी कार्यवाही की बात उनके लिये दर्शन से "अतिरिक्त" समस्या है। उनके उद्धृत किये हुए वाक्य में भी जहाँ यथार्थ के लिये कहा गया है कि उसे "व्यावहारिकता के रूप में स्वीकार नहीं किया गया", वहाँ भी व्यावहारिकता पर उनकी निगाह नहीं ठहरती मानो यह व्यावहारिकता कोई डायन हो जो हमारे कवि को टोना मार देगी।

फायरबाख पर अपने तीसरे सूत्र में मार्क्स ने तब तक के भौतिकवाद की आलोचना करते हुए फिर कहा है—

"The materialist doctrine concerning the changing of circumstances and education forgets that circumstances are changed by men and that the educator himself must be educated. This doctrine has therefore to divide society into two parts, one of which is superior to society.

"The coincidence of the changing of circumstances and of human activity or self-changing can

only be comprehended and rationally understood as revolutionary practice.” (“परिस्थितियों को बदलने का और शिक्षा का भौतिकवादी सिद्धान्त यह भुला है कि परिस्थितियाँ इंसानों द्वारा बदली जाती हैं और शिक्षक को खुद शिक्षित होना पड़ेगा । इसलिए यह सिद्धान्त मजबूरन समाज के दो हिस्से कर देता है, जिनमें से एक समाज से बढ़कर होता है ।

“परिस्थिति-परिवर्तन और मानव-कर्म या आत्म-परिवर्तन की अभिवृत्त क्रान्तिकारी अमल के रूप ही में बोधगम्य हो सकती है और बुद्धि-सङ्गत ढंग से समझी जा सकती है ।”)

मानव जीवन को शुभ की ओर “परिवर्तित” करने का काम परमात्म-प्रशंसा को भौतिक जीवन के बंधनों से मुक्त करना नहीं है (वह तो अकाल और लाठी-गोली की कृपा से नित्य होता रहता है) बल्कि वह आत्म-परिवर्तन क्रान्तिकारी अमल में दिखाई देता है (अकाल और लाठी-गोली व्यवस्था के सक्रिय विरोध में दिखाई देता है ।)

फायरबाख पर मार्क्स के लिखे हुए सूत्रों में नवीनजी ने क्रान्तिकारी अमल की बार-बार कही हुई बात को नजरंदाज कर दिया है, उसे अपनी वदत्तापूर्ण आलोचना के योग्य नहीं समझा ।

मध्य भारत हिंदी-साहित्य सम्मेलन-प्रथम अधिवेशन ग्वालियर, ३०-३१ दिसम्बर, ५२, १ जनवरी ५३—में सभापति-पद से भाषण देते हुए नवीनजी हिंदी आलोचना की वर्तमान गतिविधि पर प्रकाश डालते हुए कहा था, ‘सभी बंधु यह जानते हैं कि हमारी साहित्यालोचन प्रणाली में इधर कुछ सी धाराएँ बह निकली हैं जिनके कारण नये साहित्यिक—और पुराने भी—झी गड़बड़ी में पड़ गए हैं । एक प्रकार का बुद्धिभ्रम फैलता जा रहा है । साहित्य-सम्मेलनों का, हमारे देश की साहित्यिक संस्थाओं का, यह कर्तव्य है कि वे इस पर विचार करें और साहित्यकारों तथा आलोचकों को दिशा देने का प्रयत्न करें ।”

मतलब यह कि आलोचकों ने साहित्यकारों को बिगाड़ा है और साहित्य-

कार समाज को बिगाड़ रहे हैं, इसलिए इन सब को दिशा सुझाने का काम साहित्यसम्मेलन आदि संस्थाओं के सभापतियों को करना चाहिये ।

नवीनजी ने अपने भाषण में “क्वासि” की भूमिका पढ़ने से पहले लोगों को चेतावनी दे दी थी : “पाठक और श्रोता देखेंगे कि मैंने इस प्रश्न पर तात्विक दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया है । सम्भव है, कहीं-कहीं, तात्विक विवेचन के कारण, विषय किंचित् दुरूह, किंचित् कष्टग्राह्य, हो गया हो । पर, मेरा यह विश्वास है कि यदि साहित्यिक बन्धु इसे ध्यानपूर्वक पढ़ने का प्रयास करेंगे तो निश्चय ही उन्हें तात्विक स्पष्टता के दर्शन होंगे ।”

नवीनजी ने साहित्यकारों को दिशा सुझाने की समस्या पर तात्विक दृष्टि से विचार किया है । तात्विक विवेचन कष्टग्राह्य होता देखकर उन्होंने श्रोताओं को सावधान भी कर दिया है—सुनने पर समझ में न आये तो घर जाकर पढ़ना और तब उन्हें तात्विक स्पष्टता के दर्शन होंगे ।

नवीनजी का भाषण—या “क्वासि” का उपोद्घात—कष्टग्राह्य या दुरूह हो सकता है, मार्क्स पर उनकी टीका-टिप्पणी के कारण । लेकिन फायरबाख पर मार्क्स का अधूरा—नवीनजी द्वारा उद्धृत किया हुआ—सूत्र न पढ़कर पूरा सूत्र या और सभी सूत्र—जिनकी संख्या ग्यारह ही है और जो ढाई पन्नों में छपे हुए हैं—पढ़ने पर नवीनजी के उपोद्घात में कष्टग्राह्य और दुरूह कुछ भी नहीं रह जाता । मार्क्स जहाँ संसार को क्रान्तिकारी अमल से बदलने की बात कहता है, वहाँ नवीनजी आत्मा को भौतिक बन्धनों से मुक्त करके परमात्मा में लीन होने को कहते हैं । एक के लिये मनुष्य का ज्ञान उसके अमल से अभिन्न है, दूसरे के लिये ज्ञान मनुष्य के अमल से “अतिरिक्त” है ।

साहित्य में बुद्धि म क्यों फैल रहा है ? इसलिये कि लोग अपने इस लोक के जीवन की तरफ ज्यादा ध्यान देने लगे हैं; वे परलोक की आशा में भुखमरी और महामारी के शिकार होकर बन्धनमुक्त होना नहीं चाहते । आज जनता की व्यथा देखकर—एशिया की धरती पर मानवसमाज में नये-नये परिवर्तनों की बात सुनकर—हमारे साहित्यकार भी—नये और पुराने दोनों—कॉंग्रेसी रामराज के खिलाफ जनता का पक्ष लेने लगे हैं । नवीनजी इन लौकिक समस्याओं में उलझे हुए मानवों से कहते हैं—परलोक की तरफ देखो तुम परमात्मा

के अंश हो; भौतिक जीवन को बदलने की बात छोड़ो, हमारे साथ क्वासि की टेर लगाओ, भारतीय संस्कृति का यही संदेश है।

नवीनजी के उपोद्घात और मध्यभारत साहित्य-सम्मेलन वाले भाषण में नये-पुराने साहित्यकारों के बुद्धिभ्रम पर लुब्ध होने का यही रहस्य है।

(२)

फायरबाख पर उद्धृत किये हुए मार्क्स के वाक्य में प्रथम मान्यता को “पदार्थवादी दर्शन के इतिहास में निःसन्देह एक उत्तुङ्ग भूमि-सीमा-चिह्न” मानने के बाद नवीनजी उसी वाक्य में दूसरी मान्यता के बारे में कहते हैं : “मार्क्स के इस प्रथम सूत्र में जो दूसरी मान्यता है वह मुझे ग्राह्य नहीं है। और इसी कारण प्रथम मान्यता की सार्वभौमिक सत्यता भी मैं स्वीकृत नहीं कर सकता। प्रथम सूत्र की दूसरी मान्यता क्या है? वह यह है कि यथार्थ, सत्य (Reality) वही है जिसे हम इन्द्रियों द्वारा समझते, ग्रहण करते, हृदय-ङ्गम करते हैं। मैं अपने प्रगतिवादी बन्धुओं से पूछता हूँ कि क्या यह मान्यता ठीक है? इन्द्रियोपकरण द्वारा जो कुछ भी हमें उपलब्ध होता है, क्या केवल मात्र वही सत्य है? वही यथार्थ है? मैं यह नहीं कहता कि वह अयथार्थ है। पर, यथार्थ को, सत्य को, इन्द्रिय-बोध द्वारा सीमित करना—उसके परे सब कुछ असत्, अयथार्थ है, ऐसा मान लेना, मेरी सम्मति में तर्कशून्य आग्रह है।”

इस तरह नवीनजी यथार्थ को दो हिस्सों में बाँट देते हैं—एक इन्द्रियों से जाना-पहचाना जाने वाला यथार्थ, दूसरा अतीन्द्रिय यथार्थ। मार्क्सवादियों के दुराग्रह पर प्रकाश डालते हुए वह कहते हैं—देखो, मैं तो दोनों तरह के यथार्थ मानता हूँ लेकिन ये जड़वादी इन्द्रियबोध के परे कुछ मानते ही नहीं। लगता है कि मार्क्सवाद एकाँगी है और नवीनजी यथार्थ को—गोचर, अगोचर दोनों रूपों में—ग्रहण करते हैं।

एक बार दिलासा देकर कि इन्द्रियोपकरण द्वारा जो कुछ भी हमें उपलब्ध होता है; “मैं यह नहीं कहता कि वह अयथार्थ है”, नवीनजी कहने लगते हैं : “ज्ञानोपलब्धि साधन-शास्त्र को देखने से पता चलता है कि इन्द्रियाँ जो कुछ भी ग्रहण करती हैं वह एक भाँई के रूप में होता है। वास्तविक,

यथार्थ,—अर्थात् बाह्य-जगत् का इन्द्रिय-ग्रहीत स्वरूप—क्या वैसा ही है जैसा हम उसका अपनी इन्द्रियों द्वारा बोध करते हैं ? इस प्रश्न का तर्कपूर्ण उत्तर 'हाँ' में आज तक देने का साहस, मार्क्सवादियों के अतिरिक्त, अन्य बहुत कम लोगों को हुआ है। क्या यह सत्य नहीं है कि हमारे-आपके लिये जो यह रंग बिरंगा जगत् है, वह एक रंग-अंध मानव के लिये नहीं है ? तब क्या उस बिचारे रंग-अंध जन का इन्द्रियों के द्वारा ग्रहीत यह जगत् अयथार्थ है ? विकार किसमें है ? उस रंग-अंध में, क्योंकि उसकी संख्या कम है ? तब क्या हम बहु संख्या के बल पर तत्व निरूपण करेंगे ? क्या आश्चर्य कि विकार हम बहुसंख्यों में ही हो ? और क्या आश्चर्य कि यह सतरंगी जगत् वास्तव में रंग रहित, अरंगी हो ? हम लोग उस मानव को, जो रंग नहीं देखता, रंग-अंध कहते हैं। पर, यदि वह हमें भ्रमान्ध कहे तो ? मेरे कथन का केवल मात्र अर्थ यह है कि केवल इन्द्रिय सन्वेदन को ही यथार्थ का एक मात्र साक्षी मान लेना मुझे भ्रामक प्रतीत होता है। वह वास्तव में भ्रामक है।”

इससे यही साबित होता है कि नवीनजी के लिये अगोचर यथार्थ ही एक मात्र यथार्थ है। गोचर यथार्थ भ्रामक है; इसलिये वह यथार्थ की प्रतीति मात्र है, यथार्थ नहीं। इसलिए नवीनजी का यह वाक्य—“मैं नहीं कहता कि वह अयथार्थ है”—पाठक को दिलासा देने भर के लिये है। उन के लिये गोचर यथार्थ भ्रम मात्र है; वास्तविकता उससे परे है।

इन्द्रियों से जाना-पहचाना जगत् भ्रामक क्यों है ? इसलिये कि ज्यादातर लोगों को वह रंग-बिरंगा दिखाई देता है लेकिन कुछ लोगों को वह रंगहीन भी लगता है। एक ही इन्द्रिय से दो आदमियों को दो तरह का बोध हो तो —हाँ, तो किस पर सन्देह होना चाहिए ? आँख पर या दुनिया पर ? नवीन जी का तर्क है कि आँखों को भ्रम हो सकता है, इसलिए जो कुछ भी दिखे वह सभी भ्रम है, दुनिया ही भ्रम है।

यह कठिनाई उस वेदान्ती के सामने भी आई थी जो रस्सी में साँप और साँप में रस्सी का भ्रम होने पर इस नतीजे पर पहुँचा था कि दुनियाँ में न रस्सियाँ हैं, न साँप हैं; यही नहीं, रस्सी और साँप देखने वाली आँख (और मन) भी भ्रम हैं। न्याय दर्शन को मानने वाले ने यह मुश्किल बड़ी आसानी

से हल कर दी थी। उसने कहा,—छड़ी लेकर हिला दो, साँप होगा तो भागेगा, रस्सी होगी तो पड़े रहेगी।

व्यवहार से ज्ञान और ज्ञान से व्यवहार—इन दोनों के सम्बंध को भारत के दार्शनिकों ने न जाने कितनी शताब्दियों पहले समझ लिया था। इसलिये मार्क्स का ज्ञान और व्यवहार वाला सूत्र हमारी समझ में जल्दी आना चाहिये लेकिन नवीनजी जैसे कवि और विद्वान् भारतीय दर्शन के उन सूत्रों को भूल जाते हैं जिनमें ज्ञात वस्तु का प्रमाण मनुष्य का व्यवहार माना गया है। ज्ञान के क्षेत्र से व्यवहार को निकाल कर नवीनजी जैसे विद्वान् मार्क्सवाद ही का विरोध नहीं करते, वे भारतीय दर्शन की क्रान्तिकारी परम्पराओं को भी ठुकराते हैं।

संसार को जानने-पहचाने की संभावना पर ही सन्देह करने वालों की युक्ति पर एंगेल्स कहते हैं, “इसका और इसी तरह की और दूसरी दार्शनिक फुलभड़ियों का जबरदस्त खण्डन है व्यवहार अर्थात् प्रयोग और उद्योग। किसी प्राकृतिक क्रम को खुद बनाकर उसके बारे में जब हम अपनी धारणा सही साबित कर सकते हैं, उसकी परिस्थितियों में उसे जन्म दे सकते हैं और घाते में उससे अपना काम भी निकाल सकते हैं, तब कास्ट की अबोधगम्य ‘अपने में स्थित वस्तु’ का अन्त हो जाता है। पौधों और पशुओं की देह में पैदा होने वाले रसायन ऐसे ही ‘अपने में स्थित वस्तुएँ’ थे जब तक कि ऑर्गेनिक केमिस्ट्री ने उन्हें एक के बाद एक बनाना शुरू न कर दिया था। तब ‘अपने में स्थित वस्तु’ हमारे लिये स्थित वस्तु बन गई। मिसाल के लिए मैडर का रंग-द्रव्य, अलीजरीन है, जिसे हम अब खेत में मैडर की जड़ों में उगाने नहीं जाते बल्कि बहुत ज्यादा सस्ती दर पर और आसानी से कोलतार से बना लेते हैं।”

कुछ लोगों को दुनिया बेरंग दिखाई देती है तो इसका यह मतलब नहीं कि सभी लोग अंधे हो जायें या दुनियाँ के अस्तित्व से ही इन्कार कर दें। जिन्हें दुनिया बेरंग दिखाई देती है, उनके अन्वेषण को दूर करने के लिए रसायन मौजूद है—मनुष्य के व्यवहार का दर्शन मार्क्सवाद। लेकिन व्यवहार एक ऐसी चीज है जो इन सजनों को फूटी आँखों नहीं सुहाती।

गोचर संसार को स्वप्न सिद्ध करने के लिए नवीनजी ने स्वप्न में गोचर संसार का भ्रम पैदा होने की बात कही है, लिखा है, यदि इन्द्रिय सम्बेदन वास्तव में यथार्थ का बोधक है, यदि वह वास्तव में हमें, जो भी वास्तविक जगत्-स्वरूप है, उसकी छायामात्र का बोध नहीं कराता है, तो स्वप्न-जगत् का क्या होगा ? स्वप्न-जगत् की छायाएँ, जो हमारे मस्तिष्क पर अंकित हैं, स्वप्न में यथार्थ जगत् के रूप में आ जाती हैं। तब, क्या हम उस स्वप्न-विहार को भी यथार्थ मान लें ? इन प्रश्नों का उत्तर पदार्थवादी दर्शन, जो इन्द्रिय-बोध को ही यथार्थ का मापक मानता है, आज तक देने में असमर्थ हुआ है, भविष्य में भी वह उनका उत्तर न दे सकेगा ।”

भले ही पदार्थवादी दर्शन इन प्रश्नों का उत्तर न दे सके, नवीनजी ने स्वप्न और यथार्थ के सम्बन्ध पर प्रकाश डाल ही दिया है। और वह इस वाक्य में—“स्वप्न-जगत् की छायाएँ, जो हमारे मस्तिष्क पर अंकित हैं, स्वप्न में यथार्थ जगत् के रूप में आ जाती हैं ।”

मस्तिष्क पर जो छायाएँ अंकित हैं, वे किसकी छाया हैं ? किसी यथार्थ जगत् की ही छायाएँ होंगी; बिना जड़, शाखा, पत्ती वाले पेड़ की छाया तो हो नहीं सकती क्योंकि छाया देना ऐसे पेड़ का काम नहीं है। और इन छायाओं में किसका भ्रम होता है ? यथार्थ जगत् का भ्रम होता है। लेकिन स्वप्न की छायाओं और यथार्थ जगत् का यह भेद नवीनजी को मालूम कैसे हुआ है ? ज़ाहिर है, व्यवहार से। स्वप्न में कितने भी लड्डू खाओ, भूख शांत नहीं होती। व्यवहार इंसान को सिखा देता है कि यह लड्डू खाना भ्रम है। आँखें बन्द करके स्वप्न में देखा हुआ संसार सत्य है या आँख खोलकर देखा हुआ संसार सत्य है, इसका प्रमाण व्यवहार ही है। स्वप्न में लड्डू खाकर भूख शान्त न होने से यह साबित नहीं होता कि भूख भ्रम है, खाना खाकर जीवित रहना भ्रम है बल्कि व्यवहार द्वारा अपनी आवश्यकताएँ पूरी करके मनुष्य बहुत जल्दी यथार्थ और यथार्थ के भ्रम स्वप्न जगत् का भेद समझ लेता है।

इसलिये जो कुछ भी जिस किसी को भी जहाँ कहीं भी दिखाई दे जाय, मार्क्सवाद उस सभी को सत्य मानने के लिये तैयार नहीं है। कॉंग्रेस के नेताओं

को दिखाई देता है कि आज़ाद होने के बाद देश दिन पर दिन उन्नति करता जा रहा है, हमने यह आज़ादी अहिंसावादी उपायों से पायी है, इसलिये हमारी आज़ादी के फल भी औरों की आज़ादी से मीठे हैं और पंचवर्षीय योजना पूरी होने पर रामराज्य में चार चाँद लग जायेंगे,—इस सब दिखने (या दिखाने) की कसौटी व्यवहार ही है । अपने देशवासियों के मुँह की तरफ देखो, स्वप्न और यथार्थ का भेद मालूम हो जायगा ।

स्वप्न की छायाओं को यथार्थ जगत् न मानने पर नवीनजी मार्क्सवादियों से रुष्ट हो जाते हैं । स्वप्न की छायाओं को, जो व्यवहार में असत्य साबित होती हैं, मनुष्य का अद्भुत अनुभव बतलाते हुए नवीनजी कहते हैं, “मानव-समाज के अब तक के अद्भुत अनुभव हमें यह बताते हैं कि इन्द्रियबोध के अतिरिक्त भी यथार्थ का अस्तित्व है । निःसन्देह पदार्थवादी दार्शनिक इस बात को नहीं मानेंगे । उनकी इस अस्वीकृति में अनुचित आग्रह का पुट है । वे संपूर्ण मानव समाज के अद्यावधि अनुभवों से लाभ उठाना नहीं चाहते । उन्होंने अपने को अपनी मान्यता की, अपने आग्रह की, सीमा में बाँध लिया है । उनके द्वार मुक्त नहीं हैं । इस कारण, उनकी विचारधारा अवैज्ञानिक है । एक सीमा तक प्रगतिवाद के घोड़े पर चढ़ कर वे जाते हैं; पर अन्ततोगत्वा उनके घोड़े का मुख, निर्गतिवाद और प्रतिक्रियावाद की ओर मुड़ जाता है । यह बात चिन्ताजनक है ।”

इस चिन्ताजनक परिस्थिति से मार्क्सवाद की रक्षा करने के लिये नवीनजी उसके मार्ग में खड़े होकर उसे सावधान करते हैं,—आगे प्रतिक्रियावाद है, इसलिये कहना मानो, पीछे लौट चलो । उनके हाथ में वही अतिरिक्तवादी भंडी है जिसे चारों तरफ हिलाकर वह कहते हैं, “इन्द्रियबोध के अतिरिक्त भी यथार्थ का अस्तित्व है ।” अगर उसका अस्तित्व है तो आओ, व्यवहार में उसे परखें । लेकिन व्यवहार में जो अनुभव परखा जायगा, वह इन्द्रियबोध से परे कैसे होगा ? नवीनजी व्यवहार की कसौटी से दूर रहना चाहते हैं । उनकी इस अस्वीकृति में उचित आग्रह का पुट है, यह आपको मानना होगा । अनुचित आग्रह तो मार्क्सवादियों का है, जो अपनी मान्यता की सीमा में बँधे हुए हैं, यानी जो स्वप्न और यथार्थ में भेद करते हैं, जो अन्धे और आँख

वाले के अनुभवों पर समान रूप से विश्वास नहीं करते ।

“इन्द्रियबोध के अतिरिक्त भी यथार्थ का अस्तित्व है”—यह पढ़कर आप कल्पना करेंगे कि नवीनजी अब अतीन्द्रिय अनुभवों की चर्चा करने वाले हैं । एंगेल्स से एक और उद्धरण देकर और मार्क्सवाद पर, “नितान्त-अनैतिहासिक, थोथी, निःसार और मानव समाज के संचित अनुभव के विपरीत” मान्यता अपनाने का अपराध लगाकर नवीनजी जिस अतिरिक्त यथार्थ तक पहुँचते हैं, वह यह है : “ठीक है, पर प्रश्न यह है कि उन बर्बर समाजों में जो टोने-टटके, यन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग होते हैं उनका भी अध्ययन किया गया है ? यदि नहीं, तो क्यों नहीं ? यदि हाँ, तो क्या कोई ऐसे अद्भुत दृग्विषय दीख पड़े हैं जिनका भाष्य वैज्ञानिक भौतिकवाद करने में हिचकता है ? बर्बर समाज में जो भी पैठ पाये हैं उन्हें सहस्रों बार इस प्रकार के महदाश्चर्यपूर्ण दृग्विषयों से पाला पड़ा है ।”

अद्भुत दृग्विषय ? महदाश्चर्यपूर्ण दृग्विषय ! लेकिन आखिर दृग्विषय ही ! और जो दृग्विषय है, वह इन्द्रियबोध के अतिरिक्त यथार्थ कैसे है, यह समझना साधारण विवेक के बाहर है । जो दृग्विषय है, वह इन्द्रियबोध का विषय भी है; फिर नवीनजी उसे अतिरिक्त यथार्थ कह कर वैज्ञानिक भौतिकवाद को क्यों ललकार रहे हैं ?

नवीन जी के दृग्विषय व्यवहार जगत् के दृग्विषय नहीं हैं । वह स्वप्न जगत् के दृग्विषय की बात कह रहे हैं । बर्बर समाज के टोनों-टटकों से वह इस क़दर प्रभावित हैं कि अर्द्धचेतन अवस्था के “अनुभवों” को अतीन्द्रिय ही मान बैठते हैं ।

मार्क्सवाद की मान्यता अनैतिहासिक है, थोथी है, निःसार है, मानव-समाज के संचित अनुभवों के विपरीत है, इसलिये वह टोनों टटकों पर विश्वास नहीं करती, उन्हें व्यवहार की कसौटी पर परख कर मिथ्या साबित कर देती है ! इसलिये आज के यथार्थ से परेशान कवि कहता है—आओ, बर्बर युग की तरफ़ लौट चलो; तुम्हारा सारा विज्ञान प्रवंचना है; सत्य का दर्शन तो उन्होंने किया है जिनके सिर पर देवी आती है !

नवीन जी ने एक हठयोगी का जिक्र किया है जो पोटैशियम साइनाइड

खाकर भाषण देता रहा । भारतीय दर्शन में हठयोग अतीन्द्रिय यथार्थ की श्रेणी में कब से आ गया ? ज़हर खाकर जीते रहना तो दूर, यहाँ तो बाक्का-यदा ऐसे विषभक्तों का उत्पादन होता रहा है, जिनके ससर्ग मात्र से दूसरे के प्राण निकल जायँ । आज तक विषकन्याओं को किसी ने अतीन्द्रिय यथार्थ के लिये प्रमाण न माना था । यह महान् दर्शन-सामर्थ्य, यह गहर गम्भीर मौलिकता नवीन जी ही में है !

उनके दिये हुए प्रमाणों पर लोग हँसेंगे, इस सन्देह से नवीनजी पहले ही अपनी सफाई दे देते हैं । कहते हैं, “प्रगतिवादी भौतिक दर्शनशास्त्री अथवा उनके अनुयायी यह पढ़कर हँसेंगे । पर अनुचित आग्रहपूर्ण हँसी में वास्तविक घटना निमज्जित नहीं होगी । भौतिक प्रतिक्रिया को—मानव शरीर पर हला-हल विष की प्राणघातक प्रतिक्रिया को—जो अतिक्रमित कर दे, वह क्या है ? आधिभौतिक या अभौतिक, अतः आध्यात्मिक ?”

कहावत है, लोहे को लोहा ही काटता है । नवीन जी की युक्ति है कि जिससे लोहा कटेगा, वह अधिलोह या अलोह, इसलिये रूह ही होगा । एक और कहावत खास विष के ही बारे में है,—विषस्य विषमौषधम् ; नवीन जी का कहना है कि जो वस्तु विष की औषध हो, वह अधिविष या अविष, इसलिये विषयातीत ही होगी !

अन्त में पुनर्जन्म के आश्चर्यजनक-उदाहरणों की दुहाई देते हैं । बालक-बालिकाओं द्वारा दूर के ग्राम-नगर के भूगोल बताने, विशिष्ट घरों कुटुम्बों का हाल और उनके जन्मों के नाम बताने का भी प्रमाण है । “इस देश में ऐसी एक नहीं सहस्रों घटनाएँ घटती रहती हैं ।”

हाँ, इस देश में विशेष रूप से घटती रहती हैं । पहले वे दूसरे देशों में भी बहुतायत से घटा करती थीं (पुनर्जन्मवाद भारत ही में प्रचलित नहीं रहा) । सामाजिक विकास, वैज्ञानिक उन्नति और उद्योग-धन्धों की प्रगति के साथ उन देशों में ऐसी घटनाओं की संख्या शून्य तक पहुँच गई है । इसके लिये वहाँ कोई मार्क्सवाद को दोष नहीं देता । नवीन जी कहते हैं—“इन को कपोलकल्पना कह कर टालना अवैज्ञानिक अथवा प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति का परिचय देना है ।”

सभी लोग जानते हैं कि इस तरह के मिथ्या विश्वासों का विरोध हिंदु-स्तान के सभी समाजसुधारकों ने किया है। आज संकट में पड़े हुए काँग्रेसी रामराज के वकील उन तमाम सुधारकों की परम्पराएँ टुकराकर टोने-टटके, यन्त्र-मन्त्र और बालक बालिकाओं के चुटकलों से यथार्थ जगत् को मिथ्या साबित करना चाहते हैं। ये उन लोगों की श्रेणी में हैं जिनके लिये बहुत पहले गोस्वामी तुलसीदास ने “भजहिं भूत गन घोर” लिखा था।

भारत में व्यवहार से असिद्ध स्वप्नलोक की सीमाएँ बराबर संकुचित होती गई हैं। पुनर्जन्म की तो बात क्या, यहाँ तो चौरासी लाख योनियों का हिसाब किताब रखा जाता था और गाँव के ओम्फे-सयाने छिपकली-छछूंदर से लेकर मानव जन्म तक—अतीत और भविष्य का—सारा हिसाब-किताब बताने के लिये तैयार रहते थे। तैंतीस करोड़ देव-देवियों, असंख्य किन्नर, मुनि, गंधर्व, अप्सराएँ, नरक के यमदूत, रौरव, कुंभीपाक—ये सब “अति-रिक्त यथार्थ” अब काल के गर्भ में विलीन होगये हैं। इसके लिये दोष देना चाहिए मानव-समाज की समूची प्रगति को, न कि मार्क्सवाद को। नवीनजी आज के प्रचलित प्रगतिवाद के विरोधी नहीं हैं, वह मानवप्रगति के ही विरोधी हैं। आज मार्क्सवाद इतिहास को गति देने वाला क्रान्तिकारी दर्शन मानव-समाज की कायापलट कर रहा है, इसलिए नवीनजी को वह “प्रति-गतिपूर्ण प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त” मालूम होता है। मार्क्स के आगे नवीन जी का श्रद्धानत शीश बोल उठता है, “हमें दुख है कि श्रृषि कार्ल मार्क्स और प्रकांड विद्वान् शिरोमणि फ्रेडरिक एंगेल्स ने इस प्रकार की जड़तापूर्ण स्थापना को स्वीकृत करके अपने दर्शन तत्व को गतिशून्य एवं प्रतिक्रियावादी बना दिया है। इस प्रकार उन्होंने मानव-प्रगति को रोक दिया है।”

जड़तापूर्ण स्थापना किसकी है ? मानव प्रगति किसके लिए बर्बर युग में सीमित रह गई है ? आज के यथार्थ जीवन में गतिशून्य कौन है ? टोनों-टटकों और यंत्रों मंत्रों की दुहाई कौन दे रहा है ? जनता के संघर्षों का विरोध कौन कर रहा है ? जिसे करोड़ों जनता को संगठित करके दासता से मुक्ति की ओर ले जाने वाला दर्शन प्रतिक्रियावादी मालूम होता है, क्या वह उस रंग-अंध मनुष्य की तरह नहीं है जिसे सारा संसार बेरंग दिखाई देता है ?

नवीन जो ने ऋषि मार्क्स को प्रशंसा में जो शब्द लिखे थे, उनका उतना ही मूल्य है जितना प्रतिक्रियावादी आदि उपाधियों का। वह मार्क्सवाद के आसपास चक्कर लगाते हैं लेकिन नजदीक आने से डरते हैं, कहीं आँच न लग जाय। मार्क्सवाद के लिए सत्य की कसौटी व्यवहार है, मनुष्य का कर्म है। दूसरों की मेहनत पर ऐश करने वाले वर्गों को व्यवहार से सत्य को परखने वाला सिद्धान्त जरा भी नहीं भाता। वे अपने गुलामों को व्यवहार जगत् से मोड़ कर टोने-टटकों, जंत्रों-मंत्रों की दुनियाँ में फँसाना चाहते हैं। जब वे सफल नहीं होते तब उनके वकील कहते हैं—हिन्दी के नये पुराने साहित्यकारों को बुद्धिभ्रम हो गया है, साहित्यालोचन प्रणाली ने भोले-भाले लोगों में गड़बड़ी पैदा करदी है। वे साहित्यकारों को दिशा सुझाने के लिये आगे बढ़ते हैं लेकिन आँखों से जो सूझे, उसे प्रमाण मानने, व्यवहार से उसे परखने में विश्वास नहीं करते।

जब गीदड़ की मौत आती है तब वह गाँव की तरफ भागता है। जब शोषक वर्गों की मौत नजदीक आती है तब वे मार्क्सवाद को कोसने लगते हैं। यह परिस्थिति चिन्ताजनक है।

(३)

जब जड़ ही गलत होगी, तब पल्लव और शाखाएँ कहाँ से दुरस्त होंगे ! जब मार्क्सवाद की विश्व-सम्बन्धी मूल धारणाएँ ही गलत हैं, तब उन धारणाओं के आधार पर रचा हुआ सौन्दर्यशास्त्र कैसे दुरस्त होगा !

नवीन जी कहते हैं कि “इस दर्शन सिद्धान्त पर जो भी साहित्य-कला-सौन्दर्य-शास्त्र आधारित होगा, वह पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं हो सकता। इस प्रकार का शास्त्र, उस अंश तक जिस तक वह अपने को पदार्थवादी दर्शन का अनुगामी बना लेता है, मानव प्रगति को रोकने वाला, अतः मानवोन्नति-बाधक गति-अवरोधक, अचल तथा प्रतिक्रियावादी सिद्ध होगा। इस प्रकार के साहित्य-कला-सौन्दर्य शास्त्र में केवल उसी सीमा तक गति होगी जिस सीमा तक वह जीवन के तथ्य को स्पर्श, विकसित और प्रस्फुटित करेगा। किन्तु जिस समय वह शास्त्र जीवन के तथ्य को केवल भौतिकता में बाँधने का

दुराग्रह करने लगेगा, उसी समय वह विचार-विकास-विरोधी के रूप में प्रकट हो जायगा। हिन्दी के आलोचना-इतिहास में इसी प्रकार की प्रवणता, इसी प्रकार के झुकाव, का आविर्भाव हो गया है। यह खेद की बात है।”

मतलब यह कि अभौतिक सौन्दर्य पर शास्त्र लिखा जाय तो ठीक, भौतिक जीवन में सौन्दर्य दिखाई दे तो बेठीक। यदि किसी वस्तु में सौन्दर्य होगा तो दृग्बिषय हो जायगा। इसलिए सौन्दर्य होना चाहिए ऐसा जो किसी वस्तु में न हो। कवि अपनी कविता में किसी की सुन्दरता का वर्णन तो करे, लेकिन वह सुन्दर आपका दृग्बिषय न हो, वह अतिरिक्त यथार्थ हो, या स्वप्नजगत् की छायाओं का सौन्दर्य हो। नवीन जी के अनुसार जीवन का तथ्य भौतिकता से परे है, इसलिए उनका सौन्दर्य भी अभौतिक यानी रंगरूप हीन है। वह रंग-अन्ध मनुष्यों वाला सौंदर्य है !

नवीन जी ने “हल ! हल ! हल ! चलाओ हल !!” नाम की कविता उद्धृतकर के किसी प्रगतिशील आलोचक की कल्पित प्रशंसा लिखी है। फिर ‘एक बिन्दु, इन्दुमयित सिन्धुलहर छोड़ चली’ आदि दूसरी कविता उद्धृत करके उसी आलोचक द्वारा उनकी कल्पित निन्दा लिखी है। उसके बाद परिणाम यह निकाला है, “इस प्रकार की आलोचना वृत्ति हिन्दी में चल रही हैं। मेरा केवल इतना निवेदन है कि इस प्रकार के आग्रह से हिन्दी में इन लोगों की मनचाही प्रगतिशीलता का आविर्भाव नहीं होगा। प्रगतिवादी बन्धुओं की प्रगतिशीलता, जैसा मैं कह चुका हूँ, वास्तव में प्रतिगामिता है। इस प्रकार के जड़वाद को हिन्दी संसार नहीं अपनायेगा। मानव को उन्नत, बन्धन-मुक्त करना, मानव समाज को भेड़ियों के समाज से भिन्न स्थिति प्रदान करना, यह सब का लक्ष्य है। पर, यदि कोई यह कहे कि राग, द्वेष, घृणा और हिंसा वृत्ति को उभारने से ही उस प्रकार के समतावादी समाज का निर्माण हो सकेगा, तो मेरा निवेदन है कि ऐसी मान्यता ऐतिहासिक और वर्तमान मानव समाज के घटना-क्रम के विरुद्ध है।”

अच्छा, यथार्थ में भेड़ियों का समाज भी है ! हम तो समझते थे कि भेड़ और भेड़िये का भेद ही भ्रम है लेकिन यहाँ पर नवीन जी अगोचरलोक से हमारे गोचर संसार के इतने नज़दीक आ जाते हैं कि मानव-समाज को

भेड़ियों के समाज से भिन्न स्थिति प्रदान करना अपना लक्ष्य भी घोषित करते हैं। भेड़िया होता है हिंसावादी। लेकिन न अपनी समूची भूमिका में और न “क्वासि” की कविताओं में नवीन जी ने कहीं मनुष्य को भेड़ियों से सावधान किया है। उन्हें हिंसा का डर भेड़ियों से नहीं, उनसे है जो भेड़ियों से अनुराग और भातृप्रेम का व्यवहार न करके उनके प्रति रागद्वेष और घृणा प्रकट करते हैं। भेड़ियों से घृणा ! इससे अधिक आश्चर्य की बात क्या होगी ? यह घृणा नितान्त अनैतिहासिक और सामाजिक प्रगति के विरुद्ध है ! यह जड़वाद है ! हिन्दी साहित्य इसे कभी नहीं अपनायेगा !

फिर इन्सानी भेस में छिपे हुए भेड़ियों का अपना साहित्य हो, जनसाधारण का दूसरा हो, - यह भेद नवीन जी को कैसे सह्य हो सकता है ? इसलिए वर्ग युक्त समाज में साहित्य वर्गों से परे नहीं होता, बल्कि उसका वर्ग-अधार होता है, इस मार्क्सवादी सिद्धान्त की अनैतिहासिकता वह सिद्ध करते हैं। मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन का हवाला देने के बाद नवीन जी कहते हैं, “जो धारणाएँ, जो सैद्धान्तिक मान्यताएँ मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की हैं, उनके अनुसार तो यही निष्कर्ष निकलेगा जो महामानव लेनिन ने निकाला है। परन्तु जो बात विचारणीय है वह यह कि क्या उनकी वे मान्यताएँ ऐतिहासिक रूप से सत्य हैं ?”

मार्क्स और लेनिन का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी गलत है, उनका ऐतिहासिक भौतिकवाद भी गलत है। प्रमाणरूप में भारत का साहित्य है।

नवीन जी मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के इतिहास-ज्ञान का खँडन करते हुए कहते हैं, “भारतीय साहित्य की ओर दृक्पात कीजिए और देखिए कि क्या मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन की बात ठीक है ? उनका यह कथन कि श्रेणीबद्ध समाज में साहित्य कला तथा अन्य कलाएँ श्रेणी विशेष के हितों को प्रतिबिंबित करती हैं, भारतीय दर्शन-साहित्य, उपनिषत् साहित्य, आदि काव्य साहित्य पर घटित होता है ? भारतीय दर्शनों का साहित्य किस श्रेणी के हित को दर्शाता है ? क्या ब्राह्मण श्रेणी के ? कदापि नहीं। ईश, केन, कठ, आदि उपनिषत् ग्रन्थों का साहित्य किस श्रेणी के हित का प्रतिबिंबक या समर्थन है ? रामायण क्या क्षत्रिय श्रेणी-हितों का उन्नायक ग्रन्थ है ? जिसका

मस्तिष्क यथास्थान है, वह तुरन्त देख लेगा कि मार्क्स-एंगेल्स लेनिन का वह षड्वावलंबी सिद्धांत भारतीय साहित्य की इन धाराओं पर लागू नहीं होता।”

नवीन जी के लिये वर्ग क्या है ? उनके लिए वर्ग वर्ण का पर्यायवाची हो गया है। इसलिए अगर एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण को रुपया उधार देकर ब्याज खाता है तो दोनों एक ही वर्ग के हुए ! एक क्षत्रिय राजा एक क्षत्रिय किसान से फसल का चौथा हिस्सा ले तो दोनों एक ही वर्ग के हुए ! नहीं, नहीं, सतयुग में क्षत्रिय न तो हल जोतते थे, न ब्राह्मण सूद खाते थे। लेकिन सतयुग में ब्राह्मण क्षत्रिय थे कहाँ ?

नवीन जी के मन में यह प्रश्न क्यों उठा कि रामायण क्षत्रिय श्रेणी के हितां का उन्नायक ग्रन्थ समझा जा सकता है ? शायद इसलिये कि उसका नायक क्षत्रिय है। इस न्याय से बंगाल के ईसाई कवि माइकेल मधुसूदन दत्त का “मेघनादवध” राजसवंश का उन्नायक ग्रन्थ भी समझा जा सकता है !

नवीन जी ने जिस तरह मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से व्यावहारिकता निकाल कर उसे जो कुछ जिसे दीखे, उसका समर्थन मान लिया था, उसी तरह उन्होंने मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद से उत्पादन-सम्बन्ध निकाल कर उसे वर्ण-वाद का समर्थक बना दिया है ! फिर मानों मार्क्सवाद भारत के दर्शन और महाकाव्यों को ब्राह्मण और क्षत्रिय नाम के दो वर्गों का प्रतिनिधि मानता हो, वह उसकी इस घोर अबोधता पर आक्रमण करके कहते हैं— देखो, यह है मार्क्सवादियों का सौन्दर्यशास्त्र !

अगर दर्शन और महाकाव्य रचने के समय भारत के लोग खाते पीते, कपड़े पहनते और घरों में रहते भी थे तो इसके लिए वे ज़रूरी चीज़ें पैदा भी करते होंगे। इन चीज़ों को पैदा करने में उन्होंने काम का बटवारा भी किया होगा। इस बटवारेके हिसाबसे उनमें आपस के कुछ उत्पादन-संबंध भी रहे होंगे। हमारे इतिहास में उस सामन्ती व्यवस्था के प्रचुर प्रमाण हैं जिसमें उत्पादन का काम श्रद्धादास करते थे या ऐसे मुक्त मानव करते थे जो पैदावार को पूरी तरह अपनी सम्पत्ति न कह सकते थे। इस व्यवस्था का प्रमाण कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में मिलेगा।

नवीन जी यह बतलायें कि वह भारत के किस दर्शन की बात कह रहे

हैं ? भारतीय दर्शन की किस धारा, किस प्रवृत्ति की वह बात कर रहे हैं ? नवीन जी भले ही यह कह कर अपने मन को तसल्ली दे लें कि भारतीय संस्कृति के माने गान्धी, विनोबा, कबीर, तुलसी, सूर, ज्ञानदेव, तुकाराम हैं लेकिन वह अच्छी तरह जानते हैं कि ये सभी सन्त कासिवादी नहीं हैं ।

मार्क्सवाद वर्गों की भूमिका को भी ऐतिहासिक विकास के संदर्भ में देखता है । एक समय आदिम समाजव्यवस्था के मुकाबले में सामन्ती समाज ने मनुष्य के विकास में क्रांतिकारी परिवर्तन किए । इसलिए कोई दर्शन या काव्य सामन्तों का समर्थक होने से ही मार्क्सवाद के लिये निन्दनीय नहीं हो जाता । देखना यह चाहिए कि मानव-संस्कृति के विकास में किस वर्ग की किसी युग-विशेष में कौनसी भूमिका रही है । मार्क्सवाद इन वर्गों की रची हुई संस्कृति को आँख मूँद कर ठुकराता नहीं है, न हवा में नयी मानव-संस्कृति की रचना करता है । वर्गयुक्त समाज में वर्ग-आधार पर जितना भी मनुष्य ने ज्ञान अर्जित किया है, मार्क्सवाद उसका मूल्याङ्कन करके उसे विकसित करता है ।

मार्क्सवाद की यह भी मान्यता है कि वर्गयुक्त समाज में दो तरह की संस्कृति होती है, एक मेहनत करने वाली जनता की, दूसरी उससे लाभ उठाने वालों की । इसलिये सामन्ती समाज में रचा हुआ सभी साहित्य सामन्ती वर्ग के हितों का प्रतिनिधि नहीं होता ।

समाज के वर्ग एक ही व्यवस्था के अन्दर काम करते हैं, इसलिये परस्पर दूसरे के सम्पर्क में आकर परस्पर प्रभाव भी डालते हैं । जनता का पक्ष लेने व ले कवियों में भी बहुधा उन विचारों की झलक मिलती है जो सामन्तों के लिये हितकर होते हैं । इससे साहित्य में वर्ग सिद्धान्त की निरर्थकता साबित नहीं होती । साबित होती है संस्कृति के क्षेत्र में वर्ग-आधार की पेचीदगी जो सीधे दो-दुनी चार रूप में प्रकट न होकर संश्लिष्ट रूप में प्रकट होती है । इसका कारण यह है कि उत्पादन-व्यवस्था के आधार एक बार सांस्कृतिक रूपों का निर्माण हो जाने पर मनुष्य जल्दी उन्हें छोड़ता नहीं है बल्कि पुराने रूपों में नए तत्व डालने की कोशिश करता है । मार्क्सवाद संस्कृति का विश्लेषण करके बतलाता है कि उसका क्षेत्र सापेक्ष दृष्टि से स्वतंत्र होता है ।

संस्कृति और उत्पादन-सम्बन्धों में ईंट और गारे का संबंध न होकर उनके बीच अक्सर फासला भी रहता है ।

संस्कृति में मार्क्स के वर्ग-सिद्धान्त को लागू करते हुए अगर कोई पूछता है कि रामायण क्या क्षत्रिय-श्रेणी-हितों का उन्नायक है तो इसमें मार्क्सवाद का दोष नहीं है, यह उस विचित्र-वीर वाली बुद्धि का दोष है जो हवाई-चक्रियों को दैत्य मानकर उन पर हमला कर बैठा था ।

भारत के वर्गयुक्त समाज ने ही उस दर्शन को जन्म दिया था जो व्यवहार को सत्य की कसौटी मानता था । उसने भारत के उस अद्भुत तर्कशास्त्र को जन्म दिया था जो विश्व संस्कृति को भारत की महत्वपूर्ण देन है । उस ने दशमलव का आविष्कार किया था और ज्योतिष तथा रसायन में महत्वपूर्ण बातों का पता लगाया था । उत्पादन में युगान्तरकारी विकास करके उसने स्थापत्य और शिल्पकला में अद्भुत उन्नति की थी ।

सामन्ती व्यवस्था में भारत के स्थापत्य, शिल्प आदि ने उन्नति की । इसी व्यवस्था में शूद्रों को अपवित्र, ब्राह्मणों को देवता रूप, राजा को ईश्वर-अंश, नरक का भय, वर्णव्यवस्था की रक्षा के लिये स्मृति ग्रन्थों, भाग्यवाद आदि की संस्कृति भी रची गई ।

वर्ग-युक्त समाज ने हमारे देश में ऐसे मनीषी भी पैदा किये जो भाग्य के मुकाबले में मनुष्य का पक्ष लेते थे—

“दैवसंपादितो दोषो मानुषेण मयाजितः”, जो शास्त्रों में लिखे हुए धर्म की पर्वाह न करके घोषित करते थे, “न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्”, जिन्होंने ज्ञान और प्रेम के लिये विशेषाधिकार की दीवालें तोड़कर कहा था—

“ये मानवाः पापकृतास्तु सर्वदा
सदा दुराचार रता विमार्गगाः ।
क्रोधाग्निदग्धाः कुटिलाश्च कामिनः
सप्ताह्यज्ञेन कलौ पुनन्ति ये ।”

भारतीय साहित्य में विचारधारा का संघर्ष छिपा नहीं है । यह संघर्ष भौतिक जीवन के संघर्ष को ही प्रतिबिम्बित करता है । नवीन जी के लिये वे

साहित्यकार जो संसार को असत्य मानते हैं और वे जो इसी संसार में अपना जीवन सुखी बनाने को कहते हैं, वे जो समाज के अधिकारी वर्गों का हित करने वाली व्यवस्था की हिमायत करते हैं और वे जो अधिकारी वर्गों का पक्ष लेते हैं, वे जो भाग्यवादी हैं, नरक का भय दिखाते हैं, शिक्षा संस्कृति को अपना इजारा समझते हैं और वे जो भाग्य को चुनौती देते हैं, स्वर्ग-नरक मनुष्य के मन ही में मानते हैं, जो शिक्षा और संस्कृति पर जनसाधारण का हक मानते हैं, नवीनजी के लिए ये दोनों तरह के विचारक और साहित्यकार कासिवादी हैं, दोनों ही वर्ग-हितों से परे हैं, दोनों ही समाज में रहते हुए जल में कमलपत्र की तरह उत्पादन सम्बन्धों से मुक्त हैं।

इस बात से सन्तुष्ट होकर कि दर्शन और काव्य में वर्गहित की बात अस्तिष्ठ हो गई है, नवीनजी कहते हैं, “और चलिये। अजन्ता के गुहाचित्र किस श्रेणी के हित-प्रतिबिम्बक हैं ? यों मारूँ तीर, लगे तो तीर, नहीं तो तुफ़ान है ही—इस प्रकार से काम नहीं चलेगा। मैं यह मान लेता हूँ कि कुछ देशों में, कुछ काल में, साहित्य और कला श्रेणी-हित-प्रतिबिम्बक बनकर रह गये हों। पर, यूरोप के चार-छः छोटे-मोटे देशों में प्रवाहित तत्कालीन धारा को शाश्वत सैद्धान्तिक सत्य का स्वरूप दे देना भूल है।”

मानो अजन्ता की चित्रकारी भारत के लिए अनोखी हो, दूसरे देशों में इस तरह की “वर्गों से परे” कला का जन्म ही न हुआ हो। अजन्ता में जो सौन्दर्य-प्रियता दिखाई देती है, उस सौन्दर्य से मनुष्य में जो संस्कार उत्पन्न होते और पुष्ट होते हैं, वे उस वर्ग के हैं जो अवकाश भोगी हैं, जो ऋग्वेद के ऋषि की तरह श्रम को इन्द्र का सखा नहीं मानता, जिसके लिए सौंदर्य श्रम में नहीं है बल्कि जीवन को दूर से देखने में है, दूसरों के परिश्रम का फल चखने में है, जिसके लिये नारी सबसे पहले भोग की वस्तु है और जिसने कालिदास के विरही यक्ष की लगन को—एक नारीव्रत को—अभी रहचाना नहीं है।

अजन्ता के चित्र हमारी सांस्कृतिक विरासत का बहुमूल्य अंश है। जो लोग प्राचीन संस्कृति को देवमूर्ति बनाकर उसकी पूजा करते हैं, उनके लिए

वह संस्कृति वर्ग ही नहीं देशकाल से भी परे हो तो क्या आश्चर्य ! उस पर अभिमान करते हुए उसे विकसित करना हो तो उसके चित्रकौशल से शिक्षा लेकर आज की कला में भ्रम के महत्व, नारी के सौन्दर्य के साथ उसके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा भी करनी होगी । यह नयी कला जनसाधारण के हितों को, उसके भावों-विचारों को प्रतिबिम्बित करेगी ।

नवीनजी पद्मावलम्बी साहित्य के विरोधी नहीं है, उसके निर्माण में विशेष सावधानी बरतनी चाहिये, यह बात भी वह एक पैराग्राफ में बता देते हैं । जो भारतीय संस्कृति वर्गों का पक्षपात करने से परे हो, उसके समर्थक नवीनजी पद्मावलम्बी साहित्य का समर्थन करें, इसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए । रही सावधानी की बात, सो वह अत्यन्त आवश्यक है वर्ना रामायण में क्षत्रिय नायक देखकर हम पूछ बैठेंगे कि यह ग्रन्थ क्या क्षत्रिय श्रेणी का उन्नायक है ।

नवीनजी मार्क्सवाद के एक सिद्धान्त को बिना किसी शर्त के स्वीकार करते हैं, वह है किसी देश या जाति के गुण विशेष का सिद्धान्त । वह कहते हैं, “किसी देश के साहित्य की आलोचना उस देश के गुणविशेष की ओर दृक्पात किये बिना की ही नहीं जा सकती ।” और भारत की विशेषता है, क्वासिवाद अर्थात् निगुणवाद । इस तरह नवीनजी ने सगुण मार्क्सवाद से अपने निगुण क्वासिवाद को सिद्ध कर दिया ।

अपने समर्थन में नवीनजी ने स्तालिन से एक उद्धरण भी दिया है जिससे भारतीय संस्कृति का अपना एक गुण है, यह बात आप मान लें । नवीनजी पाठक के सामने यह प्रश्न रखते हैं कि दृग्विषय क्या है, वह कौनसा तत्व है, जो इस विभिन्न-प्रदेश वाले राष्ट्र में एक राष्ट्रीयता का द्योतक है । संक्षेप में उत्तर है, आत्म-दर्शन, सत्-वरण, बन्धन-मोक्ष—यही इस देश की विशेषता है ।

बन्धनमोक्ष राष्ट्रीयता का द्योतक है । मानों बंधनमोक्ष की भावना भारत ही में पाई जाती है, सामन्ती समाज के लाखों पच्छिमी उपासक उसके लिए दीवाने न रहे हों । भारत की यह विचित्र राष्ट्रीयता है जो भारत में जन्म लेने को ही बंधन समझती है और जितनी जल्दी हो सके, भारत की धरती छोड़

कर मुक्त हो जाने की सलाह देती है। नवीनजी चाहते हैं कि आज के साहित्यकार भी उसी राष्ट्रीयता को भजें।

आगे चलकर नवीनजी इस प्रश्न का जवाब देते हैं। सारे संसार में यह मोक्षकामना मिलती है, तब भारत की विशेषता क्या है? विशेषता यह है कि “हमारा मानस, हमारा इतिहास, हमारी संस्कृति, हमारे वैदिक जैन बौद्ध विचार, सब कुछ अन्तर्मुखी एवं अन्तर्दर्शन के अभ्यासी हैं।”

नवीनजी ने प्रमाण में सिर्फ कठोपनिषद् से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करके समूचे भारतीय साहित्य को अन्तर्मुखी साबित कर दिया है। भारतीय साहित्य अन्तर्मुखी है, भारत की जनता स्वभाव से ही अध्यात्मवादी है, वह भौतिक जीवन को मिथ्या मानती है आदि धारणाएँ किसकी फैलाई हुई हैं? ये धारणाएँ उन लोगों ने फैलाई हैं जो भारतीय जनता के भौतिक जीवन से लाभ उठाते थे, जो हमारी जनता के कठोर परिश्रम का फल लूटकर उसे अकाल और महामारी के हवाले करते रहे हैं। नवीनजी ने भारत की जो राष्ट्रीयता खोज निकाली है, उसके सबसे अधिक समर्थक ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ही में रहे हैं। नवीनजी ऊपर से भारतीय संस्कृति की चाहे जितनी दुहाई दें, उनका अन्तर्मुखी दृष्टिकोण है पच्छिमी मनोविज्ञान ही की देन। इस तरह के अध्यात्मवादियों की विलायती संस्कृति का पर्दाफाश करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिल्कुल ठीक लिखा था, “योरप ने कहा—‘भारतवासी बड़े आध्यात्मिक होते हैं; उन्हें भौतिक सुख-समृद्धि की परवा नहीं होती।’ बस, दिखा चले अपनी आध्यात्मिकता; यह हमारी चित्रविद्या की आध्यात्मिकता, यह देखिए हमारी मूर्तिकला की आध्यात्मिकता।”

नवीनजी ऐसे ही अध्यात्मवादी हैं जो पच्छिम के अन्तर्मुखी मनोविज्ञान के समताल पर भारतीय संस्कृति की व्याख्या करते हैं।

शुक्लजी के अनुसार, “भारत में कविता इस गोचर अभिव्यक्ति को लेकर ही बराबर चलती रही है और यही अभिव्यक्ति उसकी प्रकृत भूमि है।”

और भी — “मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य भूमि है, यही हमारा पद है।”

शुक्लजी के लिये “अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर सौन्दर्य और स्थिर मंगल

कहीं नहीं; पर सौन्दर्य की गति भी नित्य और अनन्त है और मंगल की भी । गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है ।”

ये वाक्य किसी जड़वादी विचारक मार्क्स या लेनिन के अनुयायी ने नहीं लिखे । ये वाक्य परम आस्तिक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखे हैं । मानना होगा कि जगत् की नित्यता से उन्होंने जो साहित्य का सम्बन्ध जोड़ा है, वह निहायत बुद्धिभ्रम फैलाने वाला है और क्वासि की ढेर में खलल डालने वाला है । इसलिए हम यही मानेंगे कि हमारी चित्रविद्या भी आध्यात्मिक है, हमारी मूर्तिकला भी आध्यात्मिक है और दर्शनशास्त्र पर तो आध्यात्मिकता का इजारा है ही । जो यह न माने वह भारतीय संस्कृति का शत्रु है ।

(४)

मार्क्स और लेनिन के साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों में से वर्ग सिद्धान्त को अस्मिद्ध करके नवीन जी ने साहित्य-स्रष्टा के लिए दस गुण जरूरी बतलाये हैं । व्यवहार की कसौटी पर परखें तो मानना होगा कि इन गुणों का जितना सुन्दर प्रतिनिधित्व कवि नवीनजी ने किया है उतना अन्यत्र दुर्लभ है ।

साहित्य स्रष्टा में पहला गुण होना चाहिए, स्वाध्याय । नवीन जी की भूमिका इसका प्रमाण है । उन्होंने इस स्वाध्याय-निरत निबन्ध में न सिर्फ द्रष्टात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की जड़ता और अनैतिहासिकता प्रमाणित कर दी है बल्कि सगूचे भारतीय साहित्य में—“हमारे वैदिक जैन बौद्ध विचार” में—बिना किसी ईर्ष्याद्वेष या भेदभाव से काम लिये क्वासि की ढेर सुन ली है । इसके साथ ही टोनों-टटकों, यंत्रो-मंत्रों के संसार में उन्होंने जो नया जीवन डाल दिया है, वह नवीन जी के स्वाध्याय का प्रतीक तो है ही, भारतीय संस्कृति के विकास में नया अध्याय भी है ।

साहित्य-स्रष्टा में दूसरा गुण होना चाहिये—कल्पनाशक्ति । देखिये, कल्पनाशक्ति के बल पर नवीनजी किस तरह संसार का भ्रम-जाल दूर करते हैं । कहते हैं,

“पियमय तिय, तियमय पिय हों जब तब हों संभ्रम दूर, रे,

दूर करो पथ के अन्तर की यह अटपट जंजाल, रे ।”

पिय और तिय का भेद करना भौतिकवादी विषय है । नवीनजी के लिये

पिय और तिय का भेद भ्रम ही नहीं है, संभ्रम है । उसे तो अवश्य दूर कर देना चाहिए ।

और भी—

“जग नया लग रहा; पर तुम तो लगती हो बहुत पुरानी सी ।”

जगत् तो भ्रम है और पुराना भ्रम है, फिर भी नवीनजी को वह नया लगता है । और संबोधित देवी पुरानी सी लगती हैं क्यों कि वह जगत् की तरह भ्रम नहीं है ।

स्नेह और तेल का सम्बन्ध पुराना है । एक नया कल्पनाशील रूपक देखिये, “मेरा स्नेह, तैल बन जाता, औ’ बहता बन पानी-पानी” । और कवियों ने तो स्नेह का प्रयोग दो अर्थों में किया था; नवीन जी ने स्नेह को तेल बना कर फिर उसे पानी-पानी कर दिया है । लेकिन दूसरी जगह कहते हैं,

“रस-सार कंठ का सूख चला,
सर ज्यों अवृष्टि के संकट में ।”

अभी तक अर्थ-सङ्कट, अन्न-सङ्कट, आदि की बात सुनी थी लेकिन नवीन जी ने अवृष्टि के सङ्कट की कल्पना करके अनर्थ-सङ्कट, अधर्म-सङ्कट, निरन्न-सङ्कट आदि के लिये रास्ता साफ कर दिया है । यह सब कल्पना शक्ति का चमत्कार है ।

एक सङ्कट और है—

“फिर कब तुम आओगे सन्मुख, ओ जीवन-नट ?

मेटो, हे मेटो, यह विकट यवनिका-सङ्कट ।”

यवनिका-सङ्कट के कारण जीवन-नट दर्शन नहीं देते । यह सङ्कट दूर हो जाय—यानी यवनिकाओं की कमी न रहे—तो जीवन-नट तुरन्त प्रकट हो जाय । किसी ने कहा भी तो है —“करुणामय को भाता है, तम के पर्दे में आना ।”

साहित्य स्रष्टा का तीसरा गुण है—शब्द-सामर्थ्य । सब सामर्थ्यों के मुकाबले में यह सामर्थ्य नवीनजी में सबसे अधिक है । कहीं तो उनकी वाणी संस्कृत गर्भित होकर मेघमन्द्रस्वर सी क्वणित हो उठती है, यथा,

“स्वनित लयमय, ताल-भङ्कृत, क्यों न
अभिनव स्वन उठें खिल ?
आज लहरें तब श्रमर स्वर मृत्यु—
तैर्यत्रिक क्वणन में !”

ताल से स्वनों का भङ्कृत होना खूब है। और स्वनित लयमय स्वनों का खिल उठना कमाल है। स्वनित स्वन की तरह उनके गद्य में—“यह परम श्लाघ्य, चरम उन्नति-प्रेरणादायिनी, नरनारायणकारिणी प्रेरणा प्रतिबिंबित होती है तो.....”। प्रेरणा को परमश्लाघ्य कहने पर भी उसकी प्रशंसा में इस से अधिक क्या कहा जाय कि वह प्रेरणादायिनी है। इसी तरह गद्य-दायक गद्य पद्य-दायक पद्य और साहित्य-दायक साहित्य रचा जा सकता है।

कहीं पर मुहावरों का चमत्कारी प्रयोग देखते ही बनता है—

“मत छिड़को लवण, सजन हैं मेरे गात जले !”

इसे कहते हैं जले पर नमक छिड़कना। उर्दू कवि जिसे रोजमर्रा कहते हैं, उसकी बहार देखते ही बनती है,

“मेरी और तुम्हारी तो है, युग-युग की यारी सी।”

और अंग्रेजी वाले जिसे ओनोमैटोपिया कहते हैं, उसकी अनुपम मिसाल यह है—

“किर - किर - किर, चिक् - चिक् - चिक्, बोल रहे शैल विहग।”

जहाँ-तहाँ ग्रामगीतों ने रस का स्रोत प्रवाहित कर दिया है—

“हमारे बालम कौं कोउन जगइयो, कोउजनि गइयो मलार, रे,
कँगनन की खनखन जनि करियो, ना पायल भनकार, रे।”

मलार गाकर बालम को जगाना संगीत शास्त्र में भी इजाफा है।

साहित्यस्रष्टा में चौथा गुण होना चाहिये, मानव-स्वभाव-अध्ययन। पहले गलती करना, फिर पछताना, यह मनुष्य मात्र का धर्म है। नवीन जी कहते हैं,

“क्यों न अब्यभिचार की चिर रीति जीवन में निबाही ?

क्यों तड़प कर, एक क्षण को, शृङ्खला टूटी वृथा ही ?”

अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत ? सारा दोष पछताने वाले का भी नहीं है—

“तुमने देखा था यूँ, गोया, कुछ बहुत पुरानी यारी थी।”

इस तरह देखना भी तो मानव समाज के कुछ सदस्यों का विशेषाधिकार है।

पाँचवा गुण है—यथातथ्यग्राह (Grip on fundamentals)। जैसे ग्राह ने गज का पैर पकड़ा था कि बेचारा फन्दे से तब तक न निकल पाया जब तक भगवान ही मदद करने के लिये न दौड़े। नवीन जी भी फंडामेंटल्स के ग्रहण करने में विश्वास करते हैं, यथा—

“चरण चुंबन दान में अब मान कैसा ? प्राण मेरे,
भिक्षुक कैसी ? स्त्री भू क्यों ? यह विरति क्यों ? अभिमान मेरे।”

कारण स्पष्ट है। प्राण और अभिमान अपने फंडामेंटल्स को कवि के ग्रिप में नहीं आने देना चाहते। और भी,—

“आज वक्ष, माथे, कटि, उर पर है
चीनांशुक तरल लाजमय,
नेह सफल तब जान सलोनी
जब हो जाए इस पट का लय”

यह भी निपट यथातथ्य ग्राह की ही बात है।

छठा गुण कला-सौष्टव है। सौष्टव ऊपर की सभी मिसालों में है। सातवाँ गुण है स्थिति-सृजन-शक्ति। स्थिति क्या परिस्थिति ऐसी पैदा की जा सकती है कि सङ्गदिल को भी पिघलना पड़े। हालत यह है कि—

“सूखा कंठ, ओठ पर पपड़ी, अन्तरतर है पका पका सा।”

इसलिये

“मेरी रसभीनी श्यामा तुम, बरसो मम मनवन आँगन में।”

आठवाँ गुण है, जीवन-चित्रण सामर्थ्य। जीवन की सार्थकता जितनी रोने में है, उतनी और किसी काम में नहीं, इसलिए,

“छेड़ों न,—रंच रो लेने दो,
मेरे मन की हो लेने दो,
हिचकियाँ उठें, रोको न इन्हें
जल से लोचन धो लेने दो।

यह रोना किसी उद्देश्य से नहीं है। कला कला के लिये की तरह यह रोना रोने के लिये है। कवि कहता है—

“कोई न कभी सुन पायेगा
बैठा हूँ कोने में छुपके।”

नवां गुण समाधि-सामर्थ्य है। ऐसी समाधि जो टूटे नहीं मृत्यु से ही मिलती है। भौतिक जीवन बिताते हुए जो समाधि लगाते हैं, उनकी समाधि अस्थायी होती है। इसलिए—

“डाल श्यामल केश मुख पर और चादर ओढ़ काली,
यह पधारी मृत्युरानी छद्म भूपावेश वाली।”

अन्तिम गुण है आर्जव, ईमानदारी सो उसके बारेमें शंका करना भी पाष होगा। कवि स्पष्ट ही कहता है—

“यौवन यों बीता जाता है,
हिय पल-पल में अकुलाता है,
मुझको रहरह के इधर उधर—
उन्मत्त भाव भटकाता है।

इस तरह साहित्य-स्रष्टा के दसों गुण नवीनजी में विद्यमान हैं। अब मार्क्स और लेनिन का बताया हुआ एक गुण—जनता का पक्ष लेना—न हुआ तो क्या। साहित्य स्रष्टा को पक्षपात से परे ही रहना चाहिए।

(५)

“रश्मि-रेखा” की भूमिका में नवीन जी अनदेखे की टोह के मरने पर अफसोस प्रकट करते हुए कहते हैं, “आज के इस आस्थाशून्य युग में अनदेखे की टोह मृतप्राय हो गई है। जीवन के क्षेत्र को हम केवल प्रत्यक्ष की परिखा से सीमित कर बैठे हैं। अप्रत्यक्ष की हमारी प्यास बुझ गई है। यदि अप्रत्यक्ष पिपासा लगी रहती, तो जगजीवन इतना विशृङ्खल, इतना उन्मत्त, इतना स्वनाशोन्मुख न होता। ... मनुष्य धन से तृप्त नहीं होता, धनमात्र से ही, वैभव से, वित्त से ही उसकी तृप्ति नहीं होती; तृप्ति के लिए तो परस्पर की पिपासा लगनी चाहिए और उसकी पूर्ति होनी चाहिए। जनजीवन में वह

प्यास लगे—ऐसी मेरी इच्छा है। यदि वह तृषा जगी तो धन की भूख—
अर्थात् समाज को, मानव को, अपने आपको चबाकर निगल जाने की यह
राक्षसी भूख—मिट जायगी और इस प्रकार जीवन में संतुलन का आविर्भाव
होगा।”

प्रत्यक्ष जीवन में दुख क्यों है ? इसलिए कि अप्रत्यक्ष की चाह मिट गई
है। दुख दूर करने के लिए क्या करना चाहिए ? प्रत्यक्ष में दुख के कारण
खोजकर उन्हें निर्मूल करने के बदले अप्रत्यक्ष से लौ लगानी चाहिए। क्या
प्रत्यक्ष जीवन के दुखों के कारण प्रत्यक्ष जीवन में नहीं हैं ? धन की भूख,
मनुष्य में अपने आपको चबा कर निगल जाने की भूख, क्या उन पैँतीस
लाख नरनारियों में, जो बंगाल के अकाल में कालकवलित हुए, उसी तरह
विद्यमान थी जैसे उन राक्षसों में जो उनकी मृत्यु से करोड़ों रुपए धन कमा रहे
थे ? आज प्रत्यक्ष जीवन में हम देखते हैं कि एशिया के करोड़ों नरनारियों के
श्रम का फल जो लूटते थे, उन पच्छिमी आतताइयों के विरुद्ध देश देश के
लोग संगठित होकर संघर्ष कर रहे हैं। कौन किसको निगल जाना चाहता
है ? फ्रांस वियतनाम को या वियतनाम फ्रांस को ? अमरीका कोरिया को या
कोरिया अमरीका को ? अगर हम स्वाधीनता के लिए लड़ने वाली जनता
और साम्राज्यवादी डाकुओं में भेद न करके आज के मानवमात्र को धन की
भूख से पीड़ित और अपने को चबा जाने के लिए उद्यत देखते हैं तो हम
प्रत्यक्ष जीवन के संघर्ष पर पर्दा डालते हैं और अन्याय के विरुद्ध लड़ने वाली
जनता के प्रति खुद अन्याय करते हैं।

ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका के परधनलोलुप डाकुओं और उनके देशी
सहायकों के विरुद्ध एशिया की सजग जनता के लिए नवीन जी का कौनसा
संदेश है ? यह कि अप्रत्यक्ष की पिपासा लगी रहती तो जगजीवन इतना
खनाशोन्मुख न होता। अब नाश जनजीवन का नाश करने वालों का हो
रहा है और उन्हें इस नाश से अप्रत्यक्ष की टोह नहीं बचा सकती।

नवीन जी जब इस युग को आस्थाशून्य कहते हैं तब यह बात स्पष्ट हो
जाती है कि आज हिन्दी साहित्य में प्रत्यक्ष जीवन की समस्याओं के प्रति जो
वृत्ति बढ़ रही है, वह युग का दोष है या गुण है, उसके लिए हिन्दी के

आलोचकों को कोसना युग को ही कोसना है। यह युग आस्थाशून्य नहीं है। आज से पहले मनुष्य को अपने उज्ज्वल भविष्य में कभी इतनी आस्था नहीं थी, उसे अपनी शक्ति से अपना भाग्य गढ़ने पर कभी इतना भरोसा नहीं था। वह अपने क्लेशमय जीवन को बदलने के लिए बड़े से बड़े बलिदान करने को तैयार है और बलिदान कर रहा है। हाँ, उसकी यह आस्था मिट गई है कि उसके सुख-दुख का भाग्य-विधाता प्रत्यक्ष जीवन में नहीं है और अप्रत्यक्ष की साधना करने से उसका प्रत्यक्ष जीवन सुखी हो जायगा। इस आस्था का मिटना उसके नये जीवन का लक्षण है। प्रत्यक्ष संसार के इस विराट् जनजागरण से नवीन जी को इतनी विरक्ति है कि उन्हें संसार मृत्युपाश में फँसा हुआ दिखाई देता है। उनके अनुसार “आज का जग विततस्य मृत्योः पाशम्—फैली हुई, विस्तृत मृत्यु के पाश में फँसा हुआ है।” अप्रत्यक्ष में जो अवस्था थी, उसकी मृत्यु होने से प्रत्यक्ष संसार ही मृत्यु के पाश में फँस गया !

नवीन जी ने “रश्मि रेखा” की भूमिका में सत्साहित्य की व्याख्या करते हुए यह भी कहा है, “वही साहित्य सत् है जो मानव में निरलस एवं निस्वार्थ कर्मरति जाग्रत् करता है। वही साहित्य सत् है जो मानव को सर्वभूतहित की ओर प्रवृत्त करता है।”

किस तरह की कर्मरति ? इन कर्मों का प्रत्यक्ष जीवन से क्या सम्बन्ध है ? यदि अप्रत्यक्ष की पिपासा जगाना सर्वभूतहित साधने का मूल उपाय है तो कर्मरति वैराग्य का ही दूसरा नाम तो नहीं है ? और सर्वभूतहित में अगर मजदूर और पूँजीपति के हित टकराते हैं, चर्चिल और आइजनहावर तथा एशियाई जनता के हित टकराते हैं तब क्या हम अप्रत्यक्ष की साधना करें ?”

इस तरह की समस्याएँ उठाने पर नवीन जी प्रसन्न नहीं होते। न चाहने पर भी हिन्दी साहित्य में ये तमाम समस्याएँ उठाई जाने लगी हैं। नवीनजी ने इनसे लुब्ध होकर कम से कम गद्यकाव्य रचने की प्रेरणा अवश्य पायी है। “अपलक” की भूमिका में कहते हैं, “उपयोगिता, उपादेयता, प्रगतिशीलता, अपलायनवादिता, सामन्ती विचारधारावरोधक, विद्रोहवादिता, औद्योगिक पूँजीवाद-जन्म, संघर्षोत्तेजक भण्डोत्तोलन, ले लो खड्ग-पटक दो-म्यान-मय

क्रान्ति-आवाहन, दम्भ्यमाना-दिग्-दिङ्ग नाद प्रेरणा, दुर्दान्ताक्रान्तक-जन्म-दन्तोपाटन संदेश-वहन-शीलता आदि सत् काव्य-सल्लक्षण मेरे इन गीतों में कठिनाता से मिलेंगे ।”

पता नहीं नवीन जी ने “आज खड्ग की धार कुंठिता”, “कवि कुछ ऐसी तान सुना जा” आदि पंक्तियाँ याद करके यह वाक्य लिखा है या उन्होंने दूसरे हिन्दी कवियों की रचनाओं पर यह व्यंग्य किया है ।

नवीन जी वर्ग और समाज-व्यवस्था से मानव कर्म को एकदम अतिरिक्त नहीं मानते । यही नहीं, वह वर्ग और मानवकर्म के सम्बन्ध जोड़ने को एक हद तक प्रगतिशील भी मानते हैं । “अपलक” की भूमिका में कहते हैं, “जीवन तत्व को, मानव की अभिव्यक्ति प्रेरणा को, उसकी कर्मरति के स्रोत को इस प्रकार सामन्त-पूँजी-शोषण-वादों और आर्थिक पदार्थवादों की चौखट में जड़ने का प्रयास मानव समाज के तत्व-निर्णय-ध्यान के इतिहास में एक महत्वपूर्ण विकास अवश्य है । परन्तु यदि इस ओर अत्यधिक खींचातानी की जायेगी तो हम यथार्थ से दूर चले जायेंगे ।”

इससे स्पष्ट है कि नवीन जी पदार्थवाद के विरोधी नहीं हैं, वह केवल अत्यधिक खींचातानी के विरोधी हैं । वह यथार्थ से दूर नहीं जाना चाहते, इसलिये वह पदार्थवाद से मनुष्य-चिन्तन को सीमित करने के पक्ष में नहीं हैं । वह कौनसा यथार्थ है जिससे नवीन जी दूर नहीं जाना चाहते लेकिन पदार्थ-वाद जिससे दूर ले जाना चाहता है ?

वह मिसाल देते हैं कि मनुष्य के मन में चिन्ता, क्रोध या भय का तीव्र संचार होने पर मानव शरीर की कुछ ग्रन्थियाँ द्रव्य विशेष हमारे रक्त में प्रवाहित करती हैं । नवीन जी पूछते हैं, “इस सत्य को लेकर यदि हम यह प्रतिपादित करने लगे कि भय या चिन्ता या क्रोध एड्रीनल और पैक्रियस ग्रन्थियों के एड्रीनेलीन और इन्सुलीन स्राव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—यदि इस प्रकार की सिद्धान्त-स्थापना हम करने लगे—तो क्या वह बात तर्क-संगत होगी ?”

इस तरह की सिद्धान्त स्थापना वही करेगा जो वैज्ञानिक भौतिकवाद के बदले घटिया मनोविज्ञान का समर्थक हो । भय, चिन्ता और क्रोध का संचार

शरीर का अस्तित्व न रहने पर नहीं होता, वह शरीर रहने तक ही सम्भव है, इसलिए न तो यह साबित होता है कि भय, चिन्ता और क्रोध अतीन्द्रिय है और न यह कि वे साव्यमात्र हैं। गोचर जगत से अतिरिक्त यथार्थ की सिद्धि के लिए नवीन जी ने भय, क्रोध और चिन्ता की मिसाल चुनकर पदार्थवाद के पक्ष का ही समर्थन किया है।

नवीन जी पदार्थवाद को एकाङ्गी साबित करने के लिए दूसरा तर्क देते हैं, “निश्चय ही मानव रोटी है,—अन्न वै प्राणाः—पर वह रोटी ही है, ऐसा मानना असत्य और अतार्किक है। मानव में परिस्थितियों के विपरीत भी कर्म करने का सामर्थ्य विद्यमान है।”

मानों पदार्थवाद कहता हो कि मानव रोटी ही है। और अगर रोटी ही नहीं है तो उसे प्रत्यक्ष गोचर जगत से परे अनन्त चेतना का अंश होना ही चाहिए। पदार्थवाद कहता है, मनुष्य दिमाग से ही सोचता है; सोचने का सामर्थ्य दिमाग नाम के पदार्थ का गुण है। नवीन जी का तर्क यह है कि अगर तुम दिमाग नाम के पदार्थ को स्वीकार करते हो तो चिन्तन-क्रिया अस्वीकार करते हो। इसलिए चिन्तन-क्रिया भौतिक जगत को मानते हुए सम्भव नहीं है, उसे भौतिकता से परे हो मानो, यह उनका आग्रह है।

यदि यह मान लिया जाय कि मानव-चिन्तन भौतिक जीवन से परे है तो साहित्य में “पदार्थवादी मान-दंड असत्य, अयथार्थ एवं भ्रामक दिखाई देंगे।” मिसाल के लिए उन्होंने शेली की कविता “ओड टु दि वेस्ट विन्ड” चुनी है। उसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ उद्धृत करके नवीन जी पदार्थवादी मानदंडों को अयथार्थ साबित करते हुए कहते हैं, “यार लोग, अपने अधकचरे तर्क का आश्रय लेकर कह सकते हैं, लो यहाँ शेली पलायनवादी हो गया है।”

पदार्थवादियों द्वारा शेली के इस पलायनवाद का खंडन कैसे होगा, यह दिखाने के लिए उन्होंने एक पैरा ही लिख दिया है। शेली इसी कविता में वसन्त की आशा लगाकर बैठ रहने को नहीं कहता बल्कि अपनी कविता से मनुष्य में एक नया जीवन लाने की बात भी कहता है। नवीन जी के अनुसार जो कवि अपनी कविता से नये जीवन में विश्वास जगायेगा, भविष्य में मनुष्य के विश्वास को ढढ़ करेगा, उसे पदार्थवादी यार लोग अधकचरे

तर्क से पलायनवादी साबित कर देंगे। इस अधकचरे तर्क की सृष्टि करने वाला कौन है, पदार्थवादी या नवीन जी ?

शेली ने भविष्य में आशा ही नहीं प्रकट की, उसने उस आशामय भविष्य के लिए संघर्ष करने को भी कहा है। “मास्क ऑफ़ अँतार्की” नाम की कविता में उसने ब्रिटेन के मजदूरों को सम्बोधन करके कहा है—

“Rise like lions from your slumber,
In unvanquishable number,
Shake to earth your chains like dew,
Which in sleep had fallen on you,
Ye are many, they are few.”

(अपनी नींद तजकर शेरों की तरह उठो, अजेय संख्या में उठो, धरती पर ओस की बूँदों की तरह अपनी जंजीरें गिरा दो जो सोते में तुमने पहन ली थीं। बुम असंख्य हो, वे मुट्ठी भर हैं।) लेकिन यह तो लेलो खड्ग-पटक-दो-म्यान-मय क्रान्ति आवाहन हो गया।

फ्रान्सीसी राज्य क्रान्ति के प्रबल समर्थक, ब्रिटिश मजदूर वर्ग के मित्र, यूरोप के स्वाधीनता आन्दोलन के साथी, अंग्रेजी भाषा के अन्यतम गायक शेली पर नवीन जी पदार्थवादियों से जब पलायनवादी होने का आरोप लगाते हैं, तब यह समझना कठिन नहीं है कि वह खुद शेली को फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति, ब्रिटिश मजदूर वर्ग के संघर्ष और यूरोप के स्वाधीनता आंदोलन से पलायन करने वाला मानते हैं। उनके लिये उस शेली का ही महत्त्व है जो प्रत्यक्ष जगत् से अतिरिक्त यथार्थ के गीत गाता है।

हिन्दी में सामन्तवाद-साम्राज्यवाद का विरोध होते देखकर नवीन जी आपे से बाहर हो जाते हैं और उस विरोध को प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य को अवैज्ञानिक करार दे देते हैं। उनके अनुसार “सामन्त-साम्राज्य-शोषण वर्ग विरोध के नाम पर जो चक्कर डण्ड पेले जा रहे हैं वे वास्तव में इतने अवैज्ञानिक हैं जिसकी सीमा नहीं।”

मानो नवीन जी वास्तविक विज्ञान के पक्ष में हों, मानों वह सामन्त-साम्राज्य-शोषण-वर्ग विरोध के प्रबल समर्थक हों, केवल उसके नाम पर

चक्कर डण्ड पेलने के विरोधी हों ।

नवीन जी के लिए विज्ञान है क्या ? क्या वह मानव-व्यवहार से ज्ञान को परखने में विश्वास करते हैं ? जो संसार की गोचरता को ही भ्रम मानता है और उस भ्रम की सत्यता को ही व्यवहार से परे मानता है, उसके लिए विज्ञान तभी सत्य हो सकता है जब वह भी व्यवहार को कसौटी न मानकर प्रत्यक्ष जगत् को भ्रम कहने लगे। पूँजीवादी विज्ञान के हासकाल में ऐसे विज्ञानियों की कमी नहीं रही जो संसार को मिथ्या मानने लगे हों। भारत के मायावादियों को सहारा मिला । पच्छिमी विज्ञान के विदेशीपन से जरा भी विचलित न होकर वे उसे गले लगाने दौड़ पड़े । मार्क्सवाद को अस्मिन्न करने वाले इन विज्ञानियों का हवाला देकर नवीन जी कहते हैं, “जिस वैज्ञानिक भौतिकवाद को वे बन्धु ध्रुव सत्य मान बैठे हैं, उसकी ऐतिहासिक रूप-रेखा को सँवारने वाला उन्नीसवीं शती का वह भौतिक विज्ञान है जिसका स्वरूप आज नितान्त रूप से परिवर्तित हो गया है ।”

भौतिक विज्ञान में ऐसा क्या परिवर्तन हो गया है जिससे मार्क्सवाद अब सत्य नहीं रहा ? नवीनजी के अनुसार मार्क्स ने “भौतिक विज्ञान (Physics) विषयक इतिनैश्चित्यमय यान्त्रिक सिद्धान्त अपनाया था ? जो यौत्त्रिक सिद्धांत अपनायेगा, उसका दर्शन भी यान्त्रिक होगा यह पक्की बात है ।”

कहाँ किस रूप में मार्क्स ने फिजिक्स का यान्त्रिक सिद्धान्त अपनाया है, नवीनजी ने यह नहीं बतलाया ।

भौतिकवाद पर मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन की कोई भी रचना पढ़ने से यह पता चल जायगा कि वे यान्त्रिक भौतिकवाद के विरोधी थे । यह यौत्त्रिकता थी किस बात में ? यौत्त्रिकता इस बात में थी कि प्रकृति का कोई इतिहास नहीं है, वह अपरिवर्तनशील है और तँग दायरों में उसकी गति सीमित है, न्यूटन के नक्षत्रअनादि और अनन्त हैं, लिनायास के प्राणी अपरिवर्तनशील किस्मों के हैं । इसके विपरीत वैज्ञानिक भौतिकवाद का कहना था कि प्रकृति काल से परे नहीं है बल्कि उसका इतिहास है, नक्षत्रों और प्राणियों का उद्भव, विकास और लय होता है । यौत्त्रिकता इस बात में थी कि भौतिक विकास सीधी रेखा में होता है, बीती हुई मँजिलें दोहराई जाती हैं, परिमाण

से गुण में परिवर्तन नहीं होता, विकास-क्रम क्रम-भंग कर के नहीं होता इत्यादि। इसके बदले वैज्ञानिक भौतिकवाद ने सिखाया कि विकास सीधी रेखा में न होकर ऊपर की ओर घुमावदार ढंग से होता है, बीती मंज़िलें दूसरे ढङ्ग से, दूसरे पैमाने पर दोहराई जाती हैं, विकास क्रम में क्रम-भंग भी होता है, परिमाण से गुण में तब्दीली होती है, विकास एक गति से न होकर भटके से, क्रान्तियों द्वारा भी होता है। यौत्रिकता इस बात में थी कि “मानव तत्त्व सामाजिक सम्बन्धों से परे हैं। वैज्ञानिक भौतिकवाद “मानव तत्त्व” को हवाई तरीके से न देखकर ऐतिहासिक “समाज-सम्बन्धों” का समुच्चय मानता था।

फिजिक्स से वैज्ञानिक भौतिकवाद ने यौत्रिकता न सीखी थी बल्कि परिमाण से गुण में तब्दीली के सिद्धान्त के प्रमाण उसमें पाये थे। जैसा कि एंगेल्स ने कहा था, “फिजिक्स में ‘‘हर तब्दीली परिमाण का गुण में बदलना है। यह तब्दीली किसी भी पदार्थ में निहित या आरोपित गति के किसी रूप के परिमाणात्मक परिवर्तन का नतीजा होती है।’’ (‘‘डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर’’)।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मार्क्स और एंगेल्स का दर्शन यौत्रिकता का घोर विरोधी था, इसीलिए वह यौत्रिक भौतिकवाद न कहलाकर द्वैतात्मक भौतिकवाद कहलाता है। वह प्रकृति को नियमों से परे नहीं मानता। उसका दावा है कि इन नियमों को जानकर मनुष्य अनिवार्यता को स्वाधीनता में बदल सकता है। प्रकृति के नियमों को जानकर उनसे लाभ उठा सकता है। नवीनजी के लिए यौत्रिकता नियमों को जानने और उनसे लाभ उठाने ही में है। उनके अनुसार विज्ञान ने प्रकृति को अनियमित साबित कर दिया है। “आज का भौतिक विज्ञान अनिश्चित्यवाद (Theory of Indeterminacy) का सिद्धान्त मान चुका है।” इस तथाकथित “विज्ञान” को मार्क्सवाद नहीं मानता। वह प्रकृति को श्रेय नियमों से परिचालित मानता है। यह सही है कि आज कुछ वर्गों को अपना भविष्य अनिश्चित दिखाई देता है लेकिन इसके लिये सामाजिक विकास के नियमों को जिम्मेदार न समझ कर वे मार्क्सवादियों को कोसते हैं और नियमहीनता को तथाकथित विज्ञान की दुहाई देकर अपने जीवन को सब से बड़ा नियम घोषित करते हैं।

उनकी इच्छा। लेकिन सँसार में शोषक वर्गों का क्षय हो रहा है, यह हम व्यवहार जगत में देख रहे हैं, उनका क्षय निश्चित है, यह हम सामाजिक विकास के नियमों से जानते हैं, इस बारे में कोई भी अज्ञान-विज्ञान अनिश्चय पैदा करके जनता को प्रगति पथ से विचलित नहीं कर सकता।

नवीनजी मानव-तत्त्व को ऐतिहासिक समाज-सम्बन्धों से परे साबित करने के लिए एक बहुत ही गंभीर प्रश्न करते हैं, “क्या रूसी युवक मनचाही युवती को प्राप्त कर आनन्द उठा सकता है और इस कारण क्या वह अपनी प्रेयसी के आगमन की बाट उत्सुकतापूर्वक नहीं जोहता? और यदि ऐसा है तो क्या उस सीमा तक रूसी मनःस्तर नितान्त रसहीन, उकठकुकाट, असंस्कृत एवं जड़ नहीं हो गया है?”

नवीन जी ने जिस तरह पदार्थवादियों से शेली को पलायनवादी कहा-लाया था, उसी तरह वे उनसे प्रेम का भी खंडन कराते हैं। नवीनजी का विचार है कि रूसी युवक (या कोई युवक) अपनी प्रेयसी के आगमन की बाट जोहेगा तो पदार्थवादी उसे असंस्कृत और रसहीन कहेंगे। लेकिन यह उत्सुकता गोचर संसार से परे है या उसके अन्तर्गत है? यह उत्सुकता मनुष्य के सामाजिक संबंधों से परे है या उनके अन्तर्गत है? इस प्रेयसी के लिये उत्सुकता से पदार्थवाद का खंडन होता है या मंडन? वे निषेधभावनाएँ किन्हीं सामाजिक संबंधों की देन हैं या हवा में पैदा हुई हैं जिनसे लुब्ध होकर कवि कहता है—

“एक चुंबन ही हुआ यह शाप जीवन का भयंकर,

अधर-सम्मेलन बना अनुताप जीवन का भयंकर।”

यह अनुताप वहीं ज्यादा पैदा होता है जहाँ प्रेम और विवाह दो विरोधी चीजें हैं, जहाँ विवाह का आधार संपत्ति है, इसलिये कवियों को पत्नी और प्रेयसी दो की भौतिक आवश्यकता पड़ती है, जहाँ अधिकांश प्रेम के गीत सामाजिक संबंधों से परेशान होकर लिखे गये हैं, जहाँ कविता के सदाचार और सामाजिक जीवन के सदाचार में एक दीवार खड़ी कर दी गई है। यदि विवाह का आधार संपत्ति, संप्रदाय, खानदान या जाति न हो, यदि सामाजिक संबंध प्रेम के प्रतिकूल न होकर अनुकूल हों, तो यह दुरंगा सदाचार

यह प्रेम और विवाह का अन्तर्विरोध, यह पत्नी और प्रेयसी का द्वैतवाद भी मिट जाय। लेकिन इस तरह समस्या पेश करने से वह सामाजिक सम्बन्धों की समस्या, प्रत्यक्ष जीवन की समस्या बन जाती है। और यही नवीन जी को पसंद नहीं है।

नवीन जी आगे कहते हैं, “और क्यों मित्रो, जब सूर बाबा ने ‘पिया बिन नागिन कारी रात जैसे अनेक गीत लिखकर वेदनामय साहित्य का सृजन किया वह क्या इस कारण कि उस सामन्तशाही युग में व्यक्ति व्यक्ति का सम्बन्ध परममय हो गया था ?”

सामन्तशाही युग में व्यक्ति-व्यक्ति का सम्बन्ध परममय नहीं होता, यह तो पूँजीवादी समाज की विशेषता है। सामन्तशाही युग में व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध सामन्तों और पुरोहितों के विशेषाधिकारों की रक्षा करते हुए कायम होते हैं। सामन्तीवर्ग की प्रेमभावना नायिकाभेद वाले साहित्य में प्रकट हुई है। इस साहित्य में नारी केवल शृंगार, केवल भोग की वस्तु है; प्रेम के लिये उसका कोई व्यक्तित्व नहीं है। इस साहित्य को जन्म देने वाले सामाजिक सम्बन्धों के विरुद्ध सूर ने प्रेम के गीत गाये, उन्होंने संसार को मिथ्या कहने वालों का विरोध भी किया। उन मायावादियों को लोग भूल गये हैं लेकिन सूर के पद भारतीय जनता को आज भी प्रिय हैं और वास्तविक स्वाधीनता मिलने पर और भी प्रिय होंगे।

नवीनजी पदार्थवाद पर एक और दोष लगाते हैं। उनके अनुसार पदार्थवादी समझते हैं कि वर्गहीन समाज की रचना होने पर मानवजीवन से द्वंद्व मिट जायगा। कहते हैं, “यदि कोई यह समझता हो कि हिन्दी-काव्य-साहित्य में प्रकटित द्वंद्व भावना सामन्तशाही के अवशेषों और साम्राज्यशाही के स्वार्थ प्रसार के कारण है तथा इनके तिरोहित होते ही यह द्वन्द्व समाप्त हो जायगा तो मैं यह कहूँगा कि यह मान्यता अशुद्ध, तर्कशून्य, थोथी और निःसार है।”

द्वंद्व जीवन का नियम है। आज द्वंद्व साम्राज्यवादी-सामन्ती स्वार्थों से है, कल वह मनुष्य के अर्जित ज्ञान और शेष शेष प्रकृति में होगा। द्वंद्व का अन्त हो जायगा, यह कल्पना पदार्थवादियों की नहीं है। यह द्वन्द्व अज्ञान

और विस्मय को शाश्वत सत्य न कहेगा, वह मनुष्य के ज्ञान को पूर्ण न कह कर उसे निरंतर बढ़ाने का प्रयत्न करेगा। द्वंद्वहीनता का आरोप तो क्वासि-वादियों पर ज्यादा न्याय के साथ लगाया जा सकता है क्योंकि वे देशकाल में किसी समाज विशेष के सदस्य मानव नाम के भौतिक प्राणी के ज्ञान के विकसित होने में विश्वास नहीं करते। जैसा कि नवीन जी खुद कहते हैं, “हो आत्मोपलब्धि की साधना में निर्द्वंद्वता आ सकती है।” फिर पदार्थवादियों पर द्वंद्वहीनता का आरोप क्यों ?

नवीन जी यह देखकर परम रुष्ट हो जाते हैं कि काँग्रेसी नेताओं के अहिंसावाद का सम्बन्ध कोई साम्राज्यवाद, सामन्तवाद या पूँजीवाद से जोड़ देता है। इसके लिये वह मार्क्सवादियों को इन शब्दों में याद करते हैं, “इस देश के निवासियों को यह ज्ञात है कि अपने को पूँजीवाद के नाशकर्ता कहने वालों ने, वर्गहीन समाज की स्थापना का दम भरने वालों ने, अपने विप्लवकारी होने का ढिंढोरा पीटने वालों ने, मानवता के भयानक संकटकाल में असीम निर्लज्जता, कुत्सित नीचता, घोर राष्ट्रघोषण, नग्न बर्बरता, पाशविक रक्त लिप्सा, जघन्यतम स्वार्थपरता, घृणित अवसरवादिता एवं हिजड़पन से भरी कायरता का परिचय देकर पहले फाशिस्त शक्ति से और तदनन्तर साम्राज्यवाद से, पेट के बल रेंग कर दांत निपोर कर, समझौता किया।”

यह इशारा किस की तरफ है ? फाशिस्त शक्ति से किसने समझौता किया था ? यह इशारा सोवियत संघ और नाजी जर्मन के बीच होने वाली परस्पर हमला न करने की संधि की तरफ हो सकता है। और “तदनन्तर” साम्राज्यवाद से समझौता करने की बात युद्धकाल में हिटलर-विरोधी सोवियत-ब्रिटेन-अमरीका के संयुक्त मोर्चे की तरफ हो सकती है।

सोवियत संघ ने नाजियों से समझौता कर लिया, यह आविष्कार नवीन जी का नहीं है। यह आविष्कार ब्रिटेन और अमरीका के साम्राज्यवादियों का ही है। वही लोग जो हिटलर और मुसोलिनी की मदद करके उन्हें सोवियत संघ के खिलाफ युद्ध के जिये उकसाते रहे थे, सोवियत-जर्मन संधि होने पर नाजीवाद के परमशत्रु बन गये और सोवियत “अवसरवादिता” को पानी पी पी कर कोसने लगे। उनकी खीभ अकारण नहीं थी। उनका यह मनसूजा कि

सोवियत जर्मनी लड़ें और वे यूरोप और दुनिया पर अपना प्रभुत्व कायम करने के लिये सुरक्षित रहें, धूल में मिल गया। सोवियत संघ ने एक दूसरे पर हमला न करने की संधि की थी, न कि नाजीवाद से समझौता किया था। आज भी सोवियत संघ ब्रिटेन और अमरीका से कहता है, आओ, विश्वशान्ति की रक्षा के लिये हम एक दूसरे पर हमला न करने के प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत करें। इस तरह के प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत करने से कौन डरता है? सोवियत संघ नहीं बल्कि विश्व-प्रभुत्व चाहने वाला अमरीकी साम्राज्यवाद। परस्पर हमला न करने की संधि करना शान्ति की रक्षा करना है, न कि साम्राज्यवाद से समझौता करना। सोवियत संघ ने जर्मनी से अनाक्रमण संधि की तो कौन पाप किया? यह “पाप” तो वह आज भी आइजनहावर के साथ अनाक्रमण संधि करके दोहराने को तैयार है। नवीन जी क्या चाहते हैं, सोवियत फौजें अमरीका पर हमला करके वहाँ साम्यवाद कायम करने जायें जिसका डर दिखा कर अमरीकी जंगबाज बेहिसाब हथियार बन्दी कर रहे हैं?

इस बात को सभी जानते हैं कि दूसरे महायुद्ध के पहले जो भी युद्ध रोकने के लिये तैयार हो, सोवियत देश उसके साथ शान्ति-रक्षा के लिये कदम उठाने को तैयार था। आज भी सोवियत संघ विश्व में शान्ति रक्षा के लिये जो देश भी चाहे, उसकी सामाजिक व्यवस्था की चिन्ता किये बिना, उससे सहयोग करने के लिए तैयार है। अगर शान्ति की रक्षा करना, युद्ध छेड़ने वालों को उनके काम में रोकना साम्राज्यवाद से समझौता करना है तो सोवियत देश ने जरूर समझौता किया है। शान्ति को भंग करने वाला साम्राज्यवाद ही है। उसके साथ समझौते का सवाल उन लोगों के लिये नहीं उठता जो शान्ति और युद्ध के खेमों के बीच तटस्थ हैं।

नवीन जी ने पिछले दिनों इस तरह आपे से बाहर होकर अपना रोष न तो भारत के बड़े पूँजीपतियों पर प्रकट किया है, न वियतनाम, मलाया और कोरिया के जल्लादों पर। मार्क्सवादियों को कोसने में उन्होंने अपने शब्दों का तूणीर खाली कर दिया है। अगर उनका संकेत भारत के मार्क्सवादियों की तरफ है तो बात कम वेबुनियाद नहीं ठहरती। फाशिस्त शक्ति से समझौता करने का सवाल उनके लिये उठ सकता है जो जापान-विजय के भरोसे

भारत को आजाद करने का सपना देख रहे थे, मार्क्सवादियों के लिये नहीं । साम्राज्यवाद से समझौता करने का सवाल उन लोगों के लिये उठ सकता है जो भारत में ब्रिटिश पूँजी की रक्षा का बीड़ा उठा चुके हैं, जो डालरों के भरोसे उद्योगीकरण का सब्ज बाग दिखा रहे हैं, यह सवाल विदेशी पूँजी के राष्ट्रीयकरण की माँग करने वालों के लिये नहीं उठता । नवीन जी ने अपनी गहन रचनात्मक प्रतिभा का परिचय देते हुये जो विशेषण-विशेष्यों की झड़ी लगा दी है, उसके योग्य पात्र भारत या बाहर के मार्क्सवादी नहीं हैं । हम नवीन जी को उत्तर उन्हीं के लहजे में न देंगे क्योंकि उनका लहजा अब उस वर्ग का होगया है जो भविष्य के बारे में अनिश्चित है । मृत्युभय से पीड़ित जन ही वास्तविकता की अवहेलना करके इस तरह प्रलाप करते हैं ।

नवीन जी बुद्ध और गान्धी की दुहाई देकर मार्क्सवादियों पर हिंसा का आरोप लगाते हैं । उनके अनुसार गाँधी और बुद्ध के दर्शन “मानव को आरक्त नखदन्तधारी, शोणितपायी भेड़िया बनने की प्रेरणा नहीं देते ।” और जाहिर है, मार्क्सवाद इनके विपरीत मनुष्य को नखदन्तधारी, शोणितपायी भेड़िया बनने की प्रेरणा देता है । कौन किसका रक्त पी रहा है, किसके हाथ में पैदावार के साधन हैं, कौन एशिया के देशों को गुलाम बनाकर वहाँ की जनता को अकाल मृत्यु के हवाले करता रहा है, यह भेद-भाव नवीन जी बिल्कुल भूल गये हैं । वे उनको हिंसक कहते हैं जो भेड़ियों को अब और रक्त देने से इन्कार करते हैं, जो भेड़ियों के नखदन्त निकाल देने का साहस दिखाते हैं । भेड़ियों से रक्षा करना हिंसा है, उनके साथ मिल बाँट कर जनता का रक्त शोषण करना अहिंसा है ! जब तक मानव-समाज में भेड़िये रहेंगे, तब तक मनुष्य कभी अहिंसा के संसार में सुख की साँस न ले सकेगा । यह हम मानते हैं कि भेड़ियों की वकालत उन्हें भेड़िया कह कर नहीं की जा सकती । इसका अहिंसावादी तरीका यह है कि उनसे मुक्ति चाहने वालों को भेड़िया कहा जाय ।

साहित्य और नारी समस्या—

(१)

जैनेन्द्रजी का उपन्यास “सुनीता” हिंदी कथा-साहित्य में एक नयी धारा का सूत्रपात करता है ।

इसमें एक पात्र है हरिप्रसन्न । कैसा है हरिप्रसन्न ? “खूब चतुर, खूब कर्मण्य, खूब संप्राण और एक दम अज्ञेय ऐसा वह था ।”

हरिप्रसन्न को मिलती है सत्या जिसे वह पढ़ाता है लेकिन उसे लड़की न चाहिये । उसे चाहिए भाभी । वह विवाह नहीं करना चाहता क्योंकि विवाह में मिलेगी पत्नी जब कि उसे चाहिये भाभी, जो पत्नी दूसरे की हो लेकिन भाभी हो हरिप्रसन्न की ।

सुनीता का पति श्रीकान्त पूरा कलाकार है । जब हरिप्रसन्न ने सुनीता को देखा भी नहीं है, तब वह मानों उसकी जरूरतें समझ कर पहले से उसे भाभी की तस्वीर भेज देता है । पत्र में उसने लिखा, “अपनी भाभी की तस्वीर देखो और कहो, तुम्हें स्त्री से छुट्टी चाहिये ?”

जब हरिप्रसन्न को भाभी मिल जाती है, वह कहता है, “तुम पहली बार भाभी बनी हो, और मैं नहीं जानता, भाभी क्या है ? मुझे कहने दो, मेरे लिए सब तुम हो ।”

वह शादी क्यों नहीं करता, वह किस तरह की स्त्री चाहता है, इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए वह कहता है, “उस पत्नी से क्या होगा जो खाली पतिव्रता हो ।” मानों हरिप्रसन्न को भय है कि उसकी व्याहता उसी की होकर रही तो वह देवर बनने के सुख से वंचित रह जायगा ।

हरिप्रसन्न को चाहिये “एक प्रतिमा भी, जो पतिव्रता चाहे न भी हो, पर अटूट हो; जो विपत्तियों में ऐसे चमके, जैसे घोर घन में बिजली ।” प्रतिमा भी न हो बल्कि प्रतिमा ही हो । जितनी ही वह प्रतिमा अधिक और नारी

कम होगी, उतना ही अच्छा । हरिप्रसन्न दूर से या निकट से उसे पूजना भर चाहता है; उसके नरीत्व से उसे डर लगता है ।

हरिप्रसन्न भाभी के कंधे पर हाथ रखकर पुकारता है—भाभी । और भाभी पूछती है, यह क्या है ? हरिप्रसन्न जवाब देता है, क्या है ? “यह जिंदगी है भाभी । इसी का क्लूसीफिकेशन है ।”

हरिप्रसन्न जिन्दगी के लिये मौत से लड़ना नहीं चाहता, वह जिंदगी को खत्म करना चाहता है मौत के लिये ।

हरिप्रसन्न हवा में पिस्तौल छोड़ता है । भाभी दोनों हाथ से उसकी बाँह दाबे रही । हरिप्रसन्न को निधि मिल गई । “जो हरिप्रसन्न ने जिन्दगी में कभी नहीं जाना, वह इन क्षणों में जाना । उसने थोड़ा सा सुख जाना ।”

इस सुख को दोहराने और उसे घना बनाने के लिये हरिप्रसन्न पिस्तौल छोड़ने से ज्यादा भयपूर्ण परिस्थिति पैदा करता है । “सुनसान जंगल । अंधेरी रात । एक बजा होगा ।” हरिप्रसन्न भाभी का हाथ पकड़े चला जा रहा है, उसे प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये । तभी—चलते-चलते अत्यन्त आकस्मिक रूप में सुनीता को अपनी बाहों में समेट ले कर हरिप्रसन्न बोल उठा—आह ! ग़ज़ब हुआ ।”

क्या ग़ज़ब हुआ, यह बात महत्वपूर्ण नहीं है । महत्वपूर्ण बात यह है कि “उसने सुनीता को बाहुओं में और कसके कहा”—। उसने कई बातें कहीं और अन्त में क्लाइमैक्स पैदा किया यह कह कर, “वहाँ शायद मौत है ।” सुख को दुगुन-चौगुन करने के लिये परिस्थिति तैयार होगई । “सुनकर सुनीता हरिप्रसन्न की बाहों में सिमटी हुई उस अंधकार में उसके चेहरे की ओर उत्सुकता से देखने लगी ।”

भाभी परेशान हो जाती है हालाँकि कल्पित भय के कारण वह अपने को हरिप्रसन्न के आलिङ्गन से छुड़ाने की कोशिश नहीं करती । पूछती है, “क्या हुआ ? क्या हुआ ? बोलो ।”

हरिप्रसन्न बोलता है लेकिन खोया हुआ सा । “मानो हरिप्रसन्न को पता भी न हो, इस भाँति अनायास जोर से सुनीता को अपने से चिपटाकर उसने कहा, तुम जानती हो, अकेला होता तो मैं अब क्या करता ? वहाँ संकट है ।

उस संकट के मुँह को ही जाकर मैं पकड़ता। लेकिन आज तो मैं उधर ताकता दूर खड़ा हूँ। मैं कुछ भी नहीं कर सकता।”

किस्सा कोतह, भाभी “हरिप्रसन्न के अङ्ग में सिमटी ही रही।”

खतरा बैकप्राउण्ड सङ्गीत की तरह बना ही रहता है। सुनीता अब हरि-प्रसन्न के लिये भाभी नहीं रहती, वह सुनीता हो जाती है। और हरिप्रसन्न मौत की बात सुनाकर कहता है, “मैं और मौत आमने सामने हैं।” मौत का सामना करता हुआ वीर हरिप्रसन्न सुनीता से कहता है, “मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ—प्रेम ? लेकिन मैं भी नहीं जानता हूँ, सुनीता।”

अन्त में, “अपने शरीर पर आहिस्ता-आहिस्ता फिरते हुए इस पुरुष के हाथ का स्पर्श अनुभव करने” के बाद सुनीता पूछती है, “तुम क्या चाहते हो हरी बाबू ?” हरीबाबू जवाब देते हैं, “तुमको चाहता हूँ, समूची तुमको चाहता हूँ।” सुनीता समझ नहीं पाती कि उसके चाहने में अभी बाधा क्या है। वह पूछ बैठती है, “तो मैं तो हूँ। तुम्हारे सामने हूँ। ले क्यों नहीं लेते।” हरिप्रसन्न इस निमन्त्रण के लिये तैयार नहीं है। उसका हाथ ‘धूमता-धूमता सुनीता की बाँह पर’ रुक जाता है। और सुनीता फिर पूछती है, “तुम्हें काहे की भिन्न है, बोलो। मैंने कभी मना किया है ? तुम मरो क्यों ? मैं तो तुम्हारे सामने हूँ। इन्कार कब करती हूँ ? लेकिन अपने को मारो मत। हरी बाबू, मरो मत, कर्म करो। मुझे चाहते हो, तो मुझे ले लो।”

हरिप्रसन्न का नाटक सफल हो जाता है। खुद मरने का डर दिखाकर वह सुनीता से आत्म-समर्पण करा लेता है। वह अपने को जीवन से निराश या उदासीन दिखाकर, मृत्यु के लिये उत्सुकता प्रकट करके जीवन के लिये मृत्यु को वरने की उत्सुकता न दिखाकर वरन् मृत्यु के लिये जीवन से बिदा होने की उत्सुकता दिखाकर—वह सुनीता को “इन्कार कब करती हूँ” की मंजिल तक ले आता है।

इस बात से ही नाटक का ऐंटीक्लाइमैक्स शुरू हो जाता है। सुनीता की साड़ी स्कंध भाग से नीचे सरक आती है। फिर यह कहते हुए, “मुझे चाहते हो ? मैं यह हूँ”—वह अपना जम्पर अलग रख देती है। हरिप्रसन्न अचकचा उठता है। उसके मुँह से सिर्फ “भाभी” निकलता है।

मानों जंपर के अलग होते ही सुनीता से वह फिर भाभी हो गई हो ! सुनीता ने जब यह कहते हुए—“मुझे ही चाहते हो न ? मुझे लो ।”—उसने अपने चारों ओर से साड़ी हटाना शुरू कर दिया, तब हरिप्रसन्न बेहद घबड़ा जाता है । उसके मुँह से एक ही शब्द निकलता है, भाभी ! लेकिन अब सुनीता ने साड़ी बिल्कुल अलग करदी । वह शरीर पर शेष बचे बाँड़ी को खोलने लगती है । हरिप्रसन्न उसके हाथ पकड़ लेता है । सुनीता शरीर से चिपकी हुई बाँड़ी को फाड़ डालती है । “वह अन्तिम वस्त्र भी चीर होकर नीचे सरक गया ।”

हरिप्रसन्न जो मृत्यु को भेंटने के लिये इतना उत्सुक था, भाभी को साड़ी-जंपर हीन रूप में देखकर डर जाता है । दोनों हाथों से आँखें ढँक लेता है । “सर्वथा पराभूत वह अपने पराजय में गड़ जाने लगा । लज्जा ने उसे जमा दिया । मानों काटो तो लहू नहीं । धरती फट क्यों न गई कि वह गड़ जाता ।” यानी जो लज्जा नारी का भूषण है, वह हरिप्रसन्न के गले पड़ गई और जो साहस पुरुष का भूषण है, वह सुनीता के गले पड़ा । हरिप्रसन्न भाभी भाभी कहता हुआ हाथ से आँखें मीचे वहाँ से उठकर चल पड़ा और उसके बाद यह वादा करके कि वह अपने को मारेगा नहीं, सुनीता को घर छोड़ आता है । फिर श्रीकान्त और सुनीता की गृहस्थी का छकड़ा चलने लगता है । हरिप्रसन्न उस घर से विदा हो जाता है ।

अज्ञेय का शेखर भी मृत्यु का प्रेमी है । अंग्रेजी से अनेक निराशावादी कवियों की रचनाएँ उसने याद कर रखी हैं । निराशा और मृत्यु के सपनों में “शुभ कंठ के नीचे कुचों की गोलाई जैसे सोत के जल में अर्ध मुकुलित कुमुदनी” के चित्र भी मिले हुए हैं ।

शेखर घोर विद्रोही है, पैदायशी विद्रोही है ! आर्थिक कारणों से कोई विद्रोह करे, यह उसकी समझ में नहीं आता । “हमारे घर में रोटी नहीं है, रोजी हमें मिलती नहीं, हम भूखे हैं, इसलिये हम विद्रोही हैं । मैं समझता हूँ कि यह कहना चुद्रता है, अपना घोरतम अपमान है ।”

वह “दुनिया के विद्रोहियो एक हो” का नारा देते हुए ललकारता है, “मैं कहता हूँ, ओ विद्रोहिओ, आओ, पहले इसी दंभ को काटो ! जानो,

समझो, घोषित करो कि हम इस या उस दुर्व्यवस्था के नहीं, हम इस ऐसेपन के ही, एतादृश मात्र के विरोधी हैं, हम सभी कुछ बदलना चाहते हैं, हमारी विद्रोही-प्रेरणा धर्म के, समाज के, राजसत्ता के, अर्थ-सत्ता के और अन्त में अपने व्यक्तित्व के प्रति विद्रोही है ।”

ऐसा विद्रोह कि विद्रोही प्रेरणा भी विद्रोही है । अपने व्यक्तित्व से भी विद्रोह है । जीवन से विद्रोह है । हर तरह की व्यवस्था से, संगठन से, मनुष्यता से विद्रोह है । ऐसा आदर्श विद्रोही आसानी से नहीं पैदा होता । “एक सम्पूर्ण और आदर्श विद्रोही को उत्पन्न करके ही एक समूची शताब्दी, बल्कि एक समूची संस्कृति सफल हो जाती है ।”

शेखर ऐसा ही विद्रोही है । हरिप्रसन्न के जीवन में जो कुछ अज्ञात या अज्ञेय रह जाता है, वह “शेखर : एक जीवनी” में स्पष्ट हो जाता है ।

शेखर विद्रोही है लेकिन क्रांतिकारी नहीं । उसके लिये विद्रोही पैदा होते हैं, बनते नहीं हैं । वह संसार की सबसे बड़ी क्रान्ति के नेता स्तालिन के बारे में कहता है, “संसार की सबसे विराट, सबसे अधिक आग्नेय, घोरतम युग प्रवर्तक रूसी क्रान्ति की गोद में पलकर भी स्टैलिन विद्रोही नहीं हो पाया जूटन बीनने वाला ही रह गया है……।”

शेखर के दिमाग में कभी-कभी एक पंक्ति गूँजा करती है,

“Better to be a dog, a pig, a rat, a stinking worm than to be a man whom no one trusts.

“अविश्वसनीय होने से कुत्ता, चूहा, दुर्गन्धित कृमि कीट होना अच्छा है …” । शेखर ऐसा ही मानवद्रोही है कि उस पर कोई विश्वास नहीं करता । उसकी तरह के दुर्गन्धित कृमिकीट ही मानव समाज के प्रियनेता स्तालिन के लिये इस तरह के अपशब्द लिख सकते हैं । आश्चर्य इस बात पर नहीं है कि अज्ञेय ने “शेखर” में यह सब लिखा है । आश्चर्य इस बात पर है कि हिन्दी के “प्रगतिशील” आलोचक शेखर को क्रांतिकारी उपन्यास कह कर उसकी तारीफों के पुल बाँधते नहीं थके ।

जून १९४७ के “हंस” में श्री भारतभूषण अग्रवाल के कुछ सवालों पर अज्ञेय के जवाब छुपे हैं । इनमें एक जगह अज्ञेय ने वात्स्की और स्तालिन के

बारे में अपनी धारणाएं स्पष्ट करते हुए कहा है, “ट्राट्स्की के चरित्र का उत्थान (और उसके अहं की अंतिम पराजय भी) कल्पना को छूता है और भावनाओं को उद्वेलित करता है। ट्राट्स्की के जीवन में स्टालिन के जीवन की अपेक्षा नाटकीय तत्व कहीं अधिक है। और ‘शेखर’ के जमाने के आतंकवादी क्रान्तिकारियों के लिए इन चीजों का महत्व बहुत अधिक था। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि शेखर के समय युगीन सभी आतंकवादी ट्राट्स्की के प्रति अधिक आकर्षित थे। उन आतंकवादियों में से बहुत से आज आगे बढ़कर उस भावना मूलक आकर्षण को गलत मानें यह तो उचित है, लेकिन ऐसा आकर्षण उनमें था ही नहीं यह दावा भूठ होगा।”

त्रात्स्की के जीवन में नाटकीय तत्व यह अधिक था कि उसने अपने देश और जनता से विश्वासघात करके साम्राज्यवादियों की जासूसी की, इनकी चाकरी करते हुए घृणित से घृणित काम करने से भी वह बाज नहीं आया। विद्रोह और क्रान्ति के बारे में लफ्फाजी करने में वह शेखर का गुरु था। उस गुरु के चरणचिन्हों पर चलते हुए अज्ञेय ने भी एंग्लो अमरीकी साम्राज्यवाद की चाकरी स्वीकार करके “शान्ति” और व्यक्ति की स्वाधीनता” की रक्षा के लिये सांस्कृतिक सम्मेलनों का आयोजन किया है।

शेखर राजनीति से परे नहीं है। उस पर किसका प्रभाव है, यह अज्ञेय के मुँह से ही स्पष्ट हो चुका है।

यह मानना होगा कि स्टालिन और त्रात्स्की के बारे में इस तरह के “भ्रम” सिर्फ अज्ञेय को नहीं है।

राहुल जी ने “सोवियत भूमि” में दिखलाया है कि स्टालिन और त्रात्स्की के संघर्ष में लेनिन ने, कम से कम एकबार, त्रात्स्की का साथ दिया। लाल फौज के सिलसिले में त्रात्स्की ने किसी बात की शिकायत लेनिन से की और “लेनिन ने त्रात्स्की की आज्ञा मानने के लिए स्टालिन को मजबूर किया। (पृ० १७४)। लेकिन “लेनिन का स्टालिन पर अधिक विश्वास और स्नेह था।” (पृ० १७५)। मानों सारा संघर्ष स्नेह और विश्वास को लेकर हो। लेनिन के शब्द त्रात्स्की की किस्मत का फैसला करते हैं कि “नेतृत्व स्टालिन को

मिलना चाहिए या त्रात्स्की को ।” (पृ० १७८) । त्रात्स्की के लिये कहा गया है कि वह “साहित्यिक आदमी था, शब्दों का धनी था ।” (पृ० १७५) ।

“सोवियत भूमि” में राहुल जी ने अज्ञेय की तरह स्तालिन को गालियाँ नहीं दीं । उन्होंने इतना ही कहा है कि “स्तालिन पत्थर की तरह भावुकता शून्य है । अगर उसमें नसें हैं तो चट्टानों की । होशियार, चतुर । आखिर है भो तो वह पूर्वोय ।” (पृ० १८३) ।

साम्राज्यवादी प्रचारकों द्वारा “निर्दय” स्तालिन के रेखाचित्र की हर पंक्ति राहुल जी ने उतार ली है ।

स्तालिन के क्रान्तिकारी जीवन के बारे में उन्होंने “सोवियत भूमि” में लिखा है, “१९१७ से पहले का जीवन तैयारी का जीवन था । असली जीवन स्तालिन का लाल क्रान्ति के बाद शुरू होता है ।” (पृ० १७२-३) लेकिन गद्दार बुखारिन के बारे में राहुल जी की राय है, “बुखारिन उन आदमियों में से है, जिसने अपनी जिंदगी का सारा भाग लालक्रान्ति के आवाहन और सफलता में खर्च किया ।” (उप० भूमिका, पृ० १३) ।

निःसन्देह राहुल जी ने गद्दारों और क्रान्ति विरोधियों के “क्रान्तिकारी” जीवन का जितना गंभीर अध्ययन किया है, उतना स्तालिन के जीवन का नहीं ।

स्तालिन और त्रात्स्की के बारे में अपनी पुस्तक “मार्क्सवाद” में यशपाल जी लिखते हैं, “जहाँ तक मार्क्सवाद के राजनैतिक आर्थिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, ट्राट्स्की और स्तालिन में कोई भेद न था । परन्तु संसार में समाजवाद स्थापित करके समाज की अवस्था कम्यूनिज्म की स्थापना के योग्य बनाने के सम्बन्ध में उनके कार्यक्रम में भेद था ।”

अगर क्रान्ति विरोध और क्रान्ति एक ही चीज हैं तो जरूर स्तालिन और त्रात्स्की में कोई भेद न था । लेकिन जैसा कि लोग जानते हैं, त्रात्स्की राजनीतिक, आर्थिक और दार्शनिक सभी क्षेत्रों में मार्क्सवाद, लेनिनवाद का विरोधी था ।

आगे यशपालजी कहते हैं, “लेनिन के पश्चात् रूस में समाजवादी व्यवस्था

चलाने का काम कम्यूनिस्ट दल ने स्टैलिन को सौंपा। ट्राट्स्की भी मार्क्सवाद का बहुत बड़ा विद्वान और विशेषज्ञ समझा जाता था। रूस की क्रान्ति के पुराने नेताओं में से होने के कारण उसका प्रभाव भी कम न था। रूस समाजवाद को सफल बनाने और समाजवाद के लिये विश्वक्रान्ति करने की तैयारी के कार्यक्रम के बारे में इन दोनों में मतभेद यहाँ तक बढ़ा कि वह सिद्धान्तों का भेद जान पड़ने लगा।”

जैसा कि सभी जानते हैं, भेद कार्यक्रम ही का न था हालांकि कार्यक्रम किन्हीं सिद्धान्तों के मातहत ही बनते हैं। स्टालिन और त्राट्स्की का “मत-भेद” मार्क्सवाद और क्रान्ति-विरोध का भेद था। यशपाल के वाक्यों से अज्ञेय की यह बात तो साबित नहीं होती कि शेखर के समय के सभी आतङ्कवादी ट्राट्स्की के प्रति अधिक आकर्षित थे लेकिन उनमें से कुछ—जिनमें यशपाल जी भी हैं, उसकी ओर एक हद तक आकर्षित अवश्य थे—यानी सोवियत-विरोधी समाजवादी प्रचार के असर में थे—यह जरूर साबित होता है।

शेखर त्राट्स्की जैसे क्रान्ति-विरोधियों का भक्त होकर उसी तरह की वीरता का परिचय देता है जिस तरह की वीरता की उससे आशा की जा सकती है। अपनी दीनता का रोना रोकर या अपने चिर विद्रोहवाद की दुहाई देकर वह स्त्रियों की करुणा जगाने में एक ही है।

“कर्मभूमि” के अमरकान्त की तरह शेखर सर्वतोमुखी क्रान्ति चाहता है। इस क्रान्ति के लिये वह साहित्य रचता है—“साहित्य—वह साहित्य जो क्रान्ति को प्रेरणा दे” और क्रान्ति ? एकपक्षीय नहीं, सर्वतोमुखी क्रान्ति ! जो क्रान्ति एक दिशा में तभी बढ़ती है जब दूसरे मार्ग बन्द कर ले, वह क्रान्ति नहीं है।”

क्रान्ति के लिये वह संगठन जरूरी नहीं समझता। व्यक्ति द्वारा की गई चेष्टाओं को वह सङ्गठित प्रयत्नों से श्रेष्ठ समझता है। उसने अपना धर्म बना लिया है, “बहुमुखी क्रान्ति के लिये भूमि जोतना और बोना, क्रान्ति-बीज की सिंचाई और निराई करना”.....

आत्मपीड़ा का सफल अभिनय करने के बाद जब शशि शेखर के ऊपर

झुकी होती है तो उसे लगता है “जैसे पहाड़ी सोते के ऊपर छायादार सप्त-
पर्ण का वृक्ष” झुक आया है ।

आत्मपीड़ा के बारे में शेखर कहता है, “पाने के लिये न जियो, देने के
लिये जियो । माना । पर क्या दो ? निरुद्देश्य, कारण हीन, अर्थहीन आत्म-
पीड़ा क्यों हो, किसके लिए हो ?”

शेखर पश्चिम की पूँजीवादी संस्कृति से प्रभावित हिन्दुस्तान के उन
निकम्मे लोगों में से है जो एक तरफ तो विद्रोह की लम्बी चौड़ी बातें कर के
अपनी हीन भावना सन्तुष्ट करते हैं, दूसरी तरफ आत्मपीड़ा के अभिनय से
अपने अस्तित्व को सार्थक कर के नारी से करुणा की भीख माँगते हैं । उनका
विद्रोह और आत्मपीड़ा दोनों ही उनके निकम्मे व्यक्तित्व के दो पहलू हैं ।

और जब उस पर सप्तपर्ण की छाँह पड़ती है तब “वह तन्द्रा पूर्ववत्
छा गई और सप्तपर्णी की छाँह में अस्तित्व सो गया.....” ।

सुनीता की तरह शशि भी विवाहिता है । उसकी अपेक्षा कष्ट ज्यादा
सहती है । वह शेखर से प्रेम करती है लेकिन शेखर उस प्रेम को लेकर क्या
करे ? वह प्रेम को कर्म के लिये प्रेरणा मानना चाहता है लेकिन कर्म उसके
पास है क्या ? आतङ्कवाद के नाम पर जो कर्म था, वह भी समाप्त हो गया
है । वह ठीक कहता है. “जीवन ने अर्थ खो दिया है, यथार्थता, व्यवस्था,
गति सब कुछ खो दिया है । निरा अस्तित्व—एक क्षण से दूसरे क्षण तक एक
अणु पुंज का बने रहना—वह भी मिट गया है ।” भावना से भटकता हुआ
एक विचार हर जगह आग देता हुआ और स्वयं ज्वाला में भुलसता हुआ—
निरन्तर उठता हुआ, उठता हुआ, न बुझता हुआ, न मरता हुआ” ।

ऐसा है शेखर, कुण्ठावाद का प्रतीक । जीवन और साहित्य में निरुद्देश्यता
का प्रचारक । ऐसा विद्रोही कि अपने व्यक्तित्व से ही विद्रोह कर बैठे ।
फिर भी उस व्यक्तित्व को उदात्त बनाकर अहंकार को सन्तुष्ट करने में उसकी
सार्थकता देखे । शेखर ऐसी चरम स्वार्थपरता का प्रतीक है कि वह किसी भी
जनहित के काम में हिस्सा नहीं ले सकता । जन-द्रोह में ही वह अपनी विद्रोह
की चरम परिणति देखता है । यह पूरा नाटक “नदी के द्वीप”, अज्ञेय की
कविताओं और लेखों में दिखाई देता है ।

शेखर के व्यक्तित्व को लेकर पाँच सौ पन्नों में जो कुछ कहा गया है, वह इस एक वाक्य में भी बहुत स्पष्टता से कह दिया गया है—

“जिस प्रकार घोंघे के भीतर रहने वाला जीव तभी बाहर निकलता है, जब वह भूखा होता है या जब वह एक प्रणयी खोजता है, और तृप्त होकर फिर घोंघे के भीतर घुस जाता है, उसी प्रकार असंतुष्ट और अतृप्त शेखर भी बाहर निकला हुआ था।”

इस घोंघावसन्ती साहित्य में कुछ विद्वानों ने महान् मनोविज्ञान, उत्कृष्ट कला, क्रान्तिकारी तत्व, क्या २ नहीं ढूँढ़ लिया।

“प्रतीक” (संख्या २) में श्री नेमिचंद्र लिखते हैं, “इस अन्तर्मुखी साहित्य में एक तरह की तीखी तीव्रता है जो प्रायः पाठक को अवसन्न छोड़ जाती है क्योंकि स्वयं लेखक की छाती पर ही एक कटार रक्खी हुई है या उसकी पुकार किन्हीं खँडहरों में खो चुकी है। स्पष्ट ही ऐसे साहित्य में जीवन के संस्कार की, अवरोध के विषको पीकर मानव को शिवत्व अथवा अमरत्व प्रदान करने की न तो प्रवृत्ति ही है न शक्ति ही। घोर आत्मरति के कारण लेखक अपनी ही संकुचित परिधि में चक्कर काटता रहता है और घुटता रहता है। शेखरपंथी साहित्य के कुछ आलोचकों की यह विशेषता है कि वे एक तरफ तो उसकी घोर आत्मरति की निंदा सी करते लगेंगे, साथ ही वे उसकी “तीखी तीव्रता” अर्थात् तीव्र तीव्रता की तारीफ भी करेंगे जो प्रायः पाठक को अवसन्न छोड़ जाती है, अगर सभी पाठकों को नहीं तो कम से कम इन आलोचकों को जरूर। उन्हें शेखरपंथी साहित्य के मुकाबले में और सब साहित्य पीका लगता है। अन्तर्मुखी साहित्य की चर्चा करने के बाद नेमिचन्द्र “तथा कथित सामाजिक चेतना का साहित्य” लेते हैं। वह मानते हैं कि “नये जीवन के निर्माण की प्रेरणा भी उसमें है,” फिर भी उन्हें वह पसन्द नहीं आता क्योंकि “अन्तर्मुखी साहित्य की अपेक्षा उसमें आंतरिक सन्नमता कम है। वह प्रायः सारा का सारा अस्वीकार का साहित्य है, बचकाना और जैसे किसी साँचे में ढला हुआ। उसमें प्रचलित नारों और घिसे पिटे विचारों की भरमाग है।”

यह मानते हुए कि हमारे यहाँ कुछ साहित्य ऐसा भी है जिसमें प्रचलित

नारों और धिसे-पिटे विचारों की भरमार है, नेमिचन्द्र की इस बात से शायद ही कोई सहमत हो कि हिन्दी में “अन्तर्मुखी” साहित्य के अलावा जो भी “सामाजिक चेतना” का साहित्य है, वह बचकाना और किसी साँचे में ढला हुआ है। इस तरह के आक्षेप अज्ञेय की तरफ से भी प्रगतिशील साहित्य पर हुए हैं। शिवदानसिंह चौहान ने अपने समर्थन में “कुत्सित समाज शास्त्र” के खिलाफ अज्ञेय का एक लंबा पैरा (अपने नई चेतना, नं० ४) वाले लेख में उद्धृत किया है। जैसे चौहान को हिन्दी लेखक ही सामयिक हलचलों में फँसे नहीं दिखाई दिये, गोर्की और शेली जैसे कलाकार भी दलदल में धँसते जान पड़े, उसी तरह अज्ञेय को सिर्फ हिन्दी में साँचे का ढला हुआ साहित्य नहीं मिलता, उन्हें समूची सोवियत संस्कृति साँचे में ढली हुई जान पड़ती है

अप्रैल १९५२ के “प्रतीक” में वह लिखते हैं, “यह कदाचित् कहा जा सकता है कि ‘फोक’ के अर्थ में लोक रूस में है ही नहीं, और वहाँ का जन प्रकृत जन नहीं, राज्य द्वारा संचालित श्रमिकजन है; फलतः वहाँ की संस्कृति भी सहज विकसित होती हुई लोकसंस्कृति नहीं, राज्यद्वारा संचालित श्रम संस्कृति है।”

अज्ञेय को सोवियत देश के मनुष्य, कला, संस्कृति सब साँचे में ढले हुए जान पड़ते हैं। उनमें न तो शेखर का “विद्रोह” है, न उसकी आत्मपीड़ा। वे मेहनत करनेवाले, शान्ति और जनतंत्र के लिये लड़नेवाले लोग हैं, उनकी संस्कृति और कला उनके मनोजगत के प्रतिबिम्ब हैं। अज्ञेय को यह सब आतंकजनित मालूम होता है।

स्तालिन के चित्रों का जिक्र करते हुए अज्ञेय ने लिखा है, “आश्चर्य की बात है कि स्तालिन के इन चित्रों में कदाचित् ही कोई अच्छा चित्र था-और शबीह की सार्थकता कदाचित् ही किसी कलाकार में थी। इसका कारण यह हो सकता है या नहीं कि स्तालिन का व्यक्तित्व रूस के कलाकारों को आतंकित किए हुए है, इस जिज्ञासा का उत्तर पाने का कोई उपाय नहीं है।”

शेखरपंथियों ने प्रगतिशील साहित्य का जो विरोध किया है, वह हमारी किन्हीं विशेष खामियों की वजह से नहीं। अज्ञेय जैसे लोग हर भाषा और देश के जन्वादी साहित्य के दुश्मन हैं।

नेमिचन्द्र की तरह शिवदानसिंह चौहान ने भी शेखर की असामाजिक चेतना, व्यक्तिवाद, हास आदि की आलोचना की है, लेकिन उस सब क नतीजा यही निकलता है कि हिन्दी कथासाहित्य में चारों तरफ हास है, सिर्फ शेखर इस युग का श्रेष्ठ उपन्यास है। “कथा साहित्य की समस्याएँ” नाम के निबन्ध में वह लिखते हैं, “अज्ञेय का ‘शेखर एक जीवनी’ ‘गोदान’ के बाद सबसे महत्वपूर्ण और कलात्मक उपन्यास है।

अवश्य ही, असामाजिक चेतना, व्यक्तिवाद, हास आदि से उसका कलात्मक सौन्दर्य घटता नहीं बल्कि शायद बढ़ता ही है। इधर चौहान की राय में “प्रगतिवाद के नाम पर अब तक हिन्दी में जो कथा-साहित्य पैदा हुआ है उसे देखकर घोर निराशा होती है।” प्रगतिशील कथासाहित्य के मुख्य पात्र कौन हैं ? “प्रगतिवादी कहानियों के पात्र समाज के वे विकृत मानव हैं जो किसी भी क्रान्तिकारी सिद्धान्त से क्रान्ति के अग्रदूत नहीं बन सकते—जैसे वेश्या, भिखारी, कोई लूला-लगड़ा अप्रैंगु, पागल, विद्विष्ट आदि।”

प्रगतिशील कथा-साहित्य का जैसा गंभीर ज्ञान इन पंक्तियों में प्रकट हुआ है, वैसा अन्यत्र, चौहान में भी, दुर्लभ है। आश्चर्य यह है कि शेखर का जो पागलपन अज्ञेय से भी छिपा नहीं रहा, उसे चौहान जैसा आलोचक क्यों नहीं देख पाया ? शेखर कहता है, “मैं पागल तो नहीं हूँ। किन्तु कभी कभी सोचता हूँ कि मुझे पागलपन के इस ओर रखने वाली, सीमित कर देने वाली रेखा कितनी पतली है !”

जैसे वह शेखर के लिये पतली है, वैसे ही उस उपन्यास को गोदान के बाद हिन्दी का सबसे महत्वपूर्ण और कलात्मक उपन्यास कहने वाले के लिये भी वह रेखा पतली है।

प्रतीक (नं १) में यह दावा किया गया है कि “वह देश की स्वाधीन साहित्यिक चेतना का प्रतीक है।” यह चेतना किससे स्वाधीन है ? सामन्ती साम्राज्यवादी संस्कृति के प्रभाव से ? नहीं, यह चेतना स्वाधीन है सामाजिक उत्तरदायित्व से। मिसाल वैज्ञानिकों की दी गई है जो अपने प्रयोग किया करते हैं। इसे कोई विज्ञान के लिए विज्ञान या जीवन से पलायन नहीं कहता। इसलिये “साहित्यिक रूपाकारों की पड़ताल करने वाला, कला के

उपकरणों की शक्तियों का अनुसंधान करने वाला ही क्यों इस नाते अक्षम्य अपराधी माना जाय कि वह कला के लिये कला का प्रतिपादन करता है ?”

पहले तो विज्ञान के आविष्कार अदृश्यहीन नहीं होते; वे मानवकल्याण या विनाश के लिये होते हैं। इसलिये “प्रतीक” की मिसाल में वैज्ञानिकों को सामाजिक उत्तरदायित्व से बरी मानकर उनसे कलाकारों की तुलना सही नहीं है। दूसरे रूपाकारों की पड़ताल करने वाले कलाकार—फॉर्मलिस्ट या रूपवादी अपनी कला का रूप किसी विषयवस्तु को ही देते हैं जो सामाजिक विकासक्रम से तटस्थ नहीं होती, उदीयमान या मरणशील तत्वों का साथ देती ही है। हम केवल रूपाकारों की पड़ताल कर रहे हैं, यह साहित्य की पतनशील विषयवस्तु को छिपाने का साधक मात्र है।

“प्रतीक” घोषणा करता है कि वह “किसी दल का पत्र या आयोजन नहीं है।” लेकिन जिस समाज में एक दल पुरानी उपनिवेशी व्यवस्था की रक्षा करना चाहता हो, दूसरा दल उस व्यवस्था से उकता गया हो, उसमें दलों से अलग रहकर अदृश्य लीक पर शुद्ध कला की गाड़ी हाँकना असंभव है। प्रतीक और अज्ञेय की सक्रिय सहानुभूति उन लोगों के साथ है जो इस उपनिवेशी व्यवस्था की रक्षा करना चाहते हैं। इसके बावजूद पाठकों के दबाव से “प्रतीक” में जब-तब अच्छी चीजें छुप जायँ, यह अपवाद उस नियम को ही साबित करता है।

“प्रतीक” नं० ४ में कहा गया है कि राजनीतिक दल “स्वयं दुराग्रह, संकीर्णता और पाखंड के पोषक हो सकते हैं, और मानसिक विकृति और भ्रंश के कारण बन सकते हैं। ‘प्रतीक’ स्पष्टदर्शिता और बेलाग आत्मनिरीक्षण का समर्थक है, और उसके लिये राजनीतिक दल का सहारा आवश्यक नहीं मानता।”

संस्कृति और स्वाधीनता पर “प्रतीक” के अपने विचार दलों से परे नहीं हैं। उन विचारों से हमें साम्राज्यवादी प्रचार पहले ही परिचित करा चुका है।

फ़रवरी १९५१ का “प्रतीक” बुद्धिजीवियों से आग्रह करता है कि वे

“अपने मन, अपने चिंतन, अपनी बुद्धि को वैचारिक दासता से बचाने और उबारने के लिये भी सतर्क और सज्ज रहें।” यह वैचारिक दासता का भय किससे है ? अज्ञेय को यह भय साम्राज्यवाद और उसकी विचारधारा से नहीं है जिसने हमारी संस्कृति को पैरों तले रौंदा है, उसके विकास में बाधा डाली है। उन्हें यह भय उन शक्तियों से है जो शान्ति और जातीय संस्कृति की रक्षा और विकास के लिये संघर्ष कर रही हैं। “प्रतीक” को शान्ति-आंदोलन से जो खतरा दिखाई दे रहा है, वह इन बाक्यों से स्पष्ट है, “आज जो आसन्न युद्धसंकट के नाम पर कहा जाता है कि पहले शान्ति चाहिए, पीछे स्वतन्त्रता देखी जायगी; वह स्थिति को विकृत रूप में दिखाना है। स्वतन्त्रता सहज ही शान्ति से अधिक मौलिक आवश्यकता है, क्योंकि शान्ति के नाम पर स्वतन्त्रता की बलि देने से स्वतन्त्रता तो जाती है, शान्ति भी हाथ नहीं आती।”

संसार की शान्ति कौन भंग कर रहा है ? दूसरों के अपनी परम्पराओं के अनुसार जातीय जीवन के निर्माण में कौन बाधा डाल रहा है ? एशिया के देशों को किसने गुलाम बनाया है और बनाये रखना चाहता है ? जाहिर है कि जो शान्ति का दुश्मन है, वह स्वाधीनता का भी दुश्मन है। फिर अज्ञेय के लिये पहले स्वाधीनता फिर शान्ति का सवाल क्यों उठता है ? इसलिये उठता है कि अज्ञेय जी और उन जैसे कलाकार क्या लिख रहे हैं, किसके लिये लिख रहे हैं, यह असमंजस में डालने वाले सवाल आप न करें। जो लोग युद्धप्रचार करना चाहते हैं, जैसे ‘नया-समाज’, वे इस काम में स्वाधीनता पूर्वक लगे रहें, जो लोग ‘तटस्थ’ रह कर साहित्य की सेवा कर रहे हैं, जैसे ‘प्रतीक’ और “आलोचना”, वे इस काम में लगे रहें। हिन्दुस्तान की जनता जो शान्ति और सुखी जीवन के लिए संघर्ष कर रही है, उससे साहित्य को ‘स्वाधीन’ रखा जाय। कलाकार की स्वाधीनता का यही रहस्य है।

रूपाकारों में प्रयोग करने की स्वाधीनता को हिन्दी में ‘प्रयोगवाद’ का नाम दिया गया है। यद्यपि इन ‘प्रयोगवादी’ कविताओं में बहुत सी ऐसी रचनाएँ भी शामिल कर ली जाती हैं जो प्रयोगवाद विरोधी हैं, फिर भी प्रयोगवाद अज्ञेय जैसे कलाकारों की सामाजिक उत्तरदायित्व से बरी होने

की माँग है ।

प्रयोगवाद का कला-सिद्धांत है, कला कला के लिए । उसकी विषय-वस्तु पराजय और कुन्ठा के रस में डूबी हुई है; उसका रूप कुरूपता का पर्याय है ।

अज्ञेय जी कहते हैं —

“लता टूटी, कुरमुराता मूल में है सूक्ष्म भय का कीट ।”

प्रयोगवाद भयग्रस्त प्राणियों की पुकार है । यह भय उन्हें भविष्य से है, जन-आंदोलन से है, अपनी साहित्यिक परंपराओं से है जिनसे बचकर वह अपनी मौलिकता प्रमाणित करने के लिये बुरी तरह उत्सुक दिखाई देते हैं ।

पराजयवादी कवि कहता है—

‘ख़त्म हमदर्दी

ख़त्म—

साथियों का साथ ।

रात आयेगी मूँदने सब को ।’

बच्चन ने पहले ही ज्यादा मधुर स्वरों में मृत्यु और निराशा के गीत गाये थे, उसी परम्परा को ये कवि और कुघड़ रूप में हमारे सामने रख रहे हैं ।

‘ज़र्द आहें हैं, ज़र्द है यह शाम;

सभी राहें हैं नाकाम ।’

एज्रा पाउंड और टी० एस० इलियट का सस्ता हिन्दुस्तानी संस्करण !

‘कथो बनी, बनी, बनी—

कही नहीं गयी । लिखी नहीं गयी ।

मिली—हृदय में गुनी—

मधुर मधुर सुर ।

अल्प हास—

एक स्वप्न प्यास । अथक स्नेहरास ।

तुम । तुम । तुम ।”

कही नहीं गयी, लिखी नहीं गयी, फिर भी कविता बन गयी ! स्वप्न-प्यास लिये कवि बेचारा कहता रह जाता है । खैर, यहाँ कुछ स्नेह और

है, वह साधारण पाठकों की कल्पना में नहीं आ सकती ।

“लुढ़की सुराही, तो
हुचक-हुचक पानी दुरा
गर्द भरे खुँदे हुए फर्श पर चुपचाप ।
देख-देख मन कैसा हुआ ।”

विषय वस्तु में निकम्मापन, निरर्थकता, निरुद्देश्यता, कभी लुढ़की सुराही पर, कभी अपने पर अतुकान्त आहें भरना, यह है प्रयोगवाद । इन कवियों के लिए जन-जीवन या तो है नहीं या है तो उन्हीं जैसा विकृत और निरुद्देश्य । अज्ञेय जी कहते हैं—

“हम एक लंबा सॉप हैं—
जो बढ़ रहा है ऎंठता-खुलता, सरकता रेंगता ।
मैं—न सिर हूँ (आँख तो हूँ ही नहीं)
दुम भी नहीं हूँ ।
और न मैं हूँ दाँत ज़हरीले ।
मैं—कहीं उस सॉप की गुंजलक में उलझा हुआ सा
एक बेकस जीव हूँ ।”

कौन लंबा सॉप है, कवि या शरणार्थी या दोनों ? जो भी हो, यह सॉप बिना दुम और बिना सिर का है, इसलिए यह कविता भी प्रयोगवाद की बहुत बढ़िया मिसाल है ।

(२)

जैनेन्द्र जी ने सुनीता में जो भाभीवाद शुरू किया था, यशपालजी ने मानों वही सूत्र ‘दादा कॉमरेड’ में पकड़ लिया था । वही आतंकवादी, वही साड़ी-जंपर-उतार परिस्थिति । ‘दादा कॉमरेड’ से लेकर ‘मनुष्य के रूप’ तक यशपाल ने यथार्थ के किस अंश को प्रतिबिम्बित किया है ? बुनियादी तौर से यशपाल की समस्याएँ वही हैं जो अज्ञेय और जैनेन्द्र की हैं । उपन्यास का ‘हीरो’ आत्मपीड़ा के ज़ारिये नारी—एक या अधिक—की कसूर जगाता है और यह नाटक ही उसके जीवन की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है । प्रेमचन्द को छोड़ दीजिये, वृन्दावनलाल वर्मा, अमृतलाल नागर, नागार्जुन आदि के

कथा-साहित्य के पात्रों से यशपाल के नायकों की तुलना करें तो मालूम हो जायगा कि जिस राजनीति का अनुसरण करने का वह दम भरते हैं, वह उनके लिये एक नारा भर है। वह राजनीति जनता के जीवन की समझबूझ से पैदा नहीं हुई; वह सुनीता की परंपरा पर चिपकाई हुई कागड़ा की स्लिप मात्र है जो हवा में इधरउधर खड़खड़ाया करती है। यशपाल का सबसे प्रभावशाली उपन्यास 'दिव्या' है, कारण कि यहाँ राजनीति की स्लिप खड़खड़ाती नहीं है। 'पार्टी कॉमरेड' या 'देशद्रोही' से उनके नायकों का रोमांस निकाल दीजिये, उपन्यास का ढाँचा चरमरा कर बैठ जायगा।

यशपाल के उपन्यासों से शिद्दा यह मिलती है कि अच्छे उपन्यास लिखना सिर्फ कौशल की समस्या नहीं है। सवाल है कि हीरो और उसके सामाजिक अमल में परस्पर सम्बन्ध किस तरह बिठाया जाय। यूरोप और अमरीका के पूँजीवादी लेखक अक्सर अपने 'हीरो' को शुद्ध विचारक बना देते हैं जो हर समस्या पर लंबे-लंबे भाषण देता है लेकिन जिसका अमली जीवन से बहुत कम संबंध रहता है। ऐसे उपन्यास में हीरो होता है लेकिन कथा नहीं होती। कथा बनती है, हीरो के काम से। लेकिन निकम्मे वर्ग के 'हीरो' को काम से क्या काम? वह काम करता है तो पिस्तौल लेकर डकैती और हत्या के काम करता है। इस तरह के हीरो का चरित्र डाकुओं और हत्यारों का होता है और इस तरह के सनसनीखेज़ कारनामों से कहानी बनती है। इस तरह हीरो का वर्ग-रूप कथा के शिल्प पर भी असर डालता है।

यशपाल के नायक भी आत्मपीड़ा के शिकार हैं। उनका उच्चतम उद्देश्य नारी की कक्षा हासिल करना है। यह अभिनय यशपाल के उपन्यासों में बार-बार दोहराया गया है? यशपाल के उपन्यासों की सेक्स-सजा हिंदी के आलोचकों और पाठकों से छिपी नहीं है। उस पर हिन्दी में अनेक लेख भी निकल चुके हैं। सवाल यह है कि यशपाल और उन जैसे उपन्यासकारों में यह सेक्स-सजा इस भोंड़े रूप में क्यों प्रकट होती है? इसका कारण स्पष्ट है। प्रेमचन्द और उनकी परंपरा के कथाकारों से यशपाल की तुलना करने पर बात साफ हो जायगी। ये कथाकार बुनियादी तौर से अपने पात्र जनसाधारण से चुनते हैं और जनसाधारण में किसान मजदूर ही नहीं, मध्यमवर्ग के भी लोग

हैं। यशपाल के पात्र जनजीवन के प्रतिनिधि नहीं हैं। वे उस वर्ग के लोग हैं जिनके लिये सेक्स और आत्मपीड़ा की समस्याएँ प्रधान हैं। इसलिये उनके साथ ग़लत या सही राजनीति जोड़ देने से ही वे प्रगतिशील नहीं हो जाते।

‘देशद्रोही’ का नायक चंदा से कहता है कि उसे ज्वर हो आता तो “मैं आपके पास आकर लेट रहता। मेरा सिर दबाना पड़ता। आपको ज़हमत होती और मुझे अच्छा लगता।” चंदा कहती है कि वह तो बिना बीमार हुए भी लेट सकता था। वह जवाब देता है, “वैसे तो लेटा ही हूँ परन्तु बीमार का अधिकार अधिक हो जाता है।” तब चंदा किस तरह उसे सहारा दे? उत्तर मिलता है, “गोद में स्थान देकर।” इस तरह का वात्सल्य रस वह चन्दा से ही नहीं चाहता। “खातून के हृदय में डाक्टर के लिए एक वात्सल्यपूर्ण ममता उमड़ आई।” उपन्यास के अन्त में आत्मपीड़ा का नाटक कलाईमैक्स पर पहुँच जाता है। घायल खन्ना की प्राणशक्ति क्षीण हो रही है। “सिर पत्थरों के ढेलों पर टिका था परन्तु मन में विश्वास था, चन्दा उसका सिर गोद में लिये है, जीवनसंग्राम में फिर से लड़ने के लिए वह स्वास्थ्य लाभ कर रहा है।” अफसोस की बात यह है कि इस जीवन संग्राम में एक जीता-जागता किसान या मजदूर नहीं दिखाई देता। यह संग्राम जनता के अधिकांश भाग को उपन्यास से बाहर रख कर चलता है।

‘पार्टी कॉमरेड’ में फौजी लारियों के सामने जनता तो भागती है, गुन्डा भावरिया उन्हें ललकारता है। “...फिर एक लारी आगई। लोग भागने लगे। भावरिया ने गाली दे चिल्लाकर कहा—“भागकर कहाँ जाओगे?”

जनता को गाली; गुंडे की बहादुरी।

जख्मी होकर—‘देशद्रोही’ के खन्ना की तरह—भावरिया गीता की कण्ठा उकसा लेता है। गीता आकर उससे मिल सकती थी लेकिन एक बाधा थी—पार्टी का अनुशासन। आखिर भावरिया बिना मिले ही संसार छोड़ जाता है।

अपनी कुछ कहानियों में यशपाल ने यह आत्मपीड़ा और राजनीति की स्लिप चिपकाने का नाटक भी नहीं किया। उनमें भोंड़ा सेक्स-वर्णन हिन्दी के अनेक साड़ी-जंपरवादी कलाकारों की परंपरा के अनुकूल हुआ है। यशपाल

अपने कथासाहित्य में रूढ़िवाद से लड़ने वाली दृढ़ नारी का चरित्र नहीं दे पाते, कारण कि उसके प्रति उनका दृष्टिकोण सामंती-पूँजीवादी भोगवादियों का है। इस भोगवाद को उन्होंने विज्ञान का रूप देने की भी कोशिश की है।

‘मार्क्सवाद’ नाम की पुस्तक में यशपाल जी कहते हैं, “संक्षेप में स्त्री पुरुष और विवाह के संबंध में मार्क्सवाद समाज के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के विचार से पूर्ण स्वतंत्रता देता है परंतु उच्छृङ्खलता और गड़बड़ या भोग को पेशा बना लेने को और उसके साथ अपनी वासना के लिये दूसरे व्यक्तियों और समाज की जीवन-व्यवस्था में अड़चन डालने को वह भयंकर अपराध समझता है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में मार्क्सवाद का रुख लेनिन की एक बात से स्पष्ट हो जाता है। लेनिन ने कहा था, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शरीर की दूसरी आवश्यकताओं भूख, प्यास, नींद की तरह ही आवश्यक है। इसमें मनुष्य को स्वतन्त्रता होनी चाहिए परन्तु प्यास लगने पर शहर की गंदी नाली में मुँह डाल कर पानी पीना उचित नहीं। उचित है, स्वच्छ गिलास से स्वच्छ जल पीना।”

लेनिन ने इससे ठीक उल्टी बात कही थी। स्वच्छ गिलास से स्वच्छ जल पीने की थ्योरी का घोर विरोध किया था। यशपाल का जोर इस बात पर है कि भोग को पेशा न बनाया जाय। भूख, प्यास, नींद की तरह सेक्स की इच्छा भी पूरी होनी चाहिये लेकिन गंदी नालियों में मुँह डालकर नहीं। वास्तव में स्वच्छ गिलास में स्वच्छ जल पीने का सिद्धान्त सेक्स के बारे में पूँजीवाद का सिद्धान्त है जिसे धनी लोग नित्य प्रति अमल में लाते हैं। उन्हें डर लगता है तो सिर्फ गंदी नालियों की छूत लगने से। अगर स्वास्थ्य विभाग स्वच्छ जल का साटीफिकेट दे दे तो उन्हें जलपान करने में कोई अड़चन नहीं होती। यह धारणा मार्क्सवाद की स्थापनाओं के बिल्कुल विपरीत है, ऐसा मानना होगा।

लेनिन ने स्वच्छ-जलवादियों के बारे में क्लारा जेट्किन से कहा था, “हालांकि मैं मुहर्रमी संत नहीं हूँ, फिर भी नौजवानों की—और कभी-कभी बुजुर्गों की भी यह तथाकथित ‘नयी सेक्स जिदगी’ मुझे एकदम पूँजीवादी

मालूम होती है, पूँजीवादी चकलों का ही प्रसार मालूम होती है। हम कम्युनिस्ट प्रेम करने की स्वाधीनता से जो कुछ भी समझते हैं, उसका इससे कुछ भी मेल नहीं है। तुम्हें उस मशहूर थ्योरी का पता होगा कि कम्युनिस्ट समाज में यौन इच्छाओं का, प्रेम का पूरा करना उतनी ही आसान और महत्वहीन बात होगी जैसे पानी का ग्लास पीना। इस पानी के ग्लास की थ्योरी ने हमारे नौजवानों को पागल बना दिया है, एकदम पागल। बहुत से नौजवान लड़के-लड़कियों के लिये वह घातक साबित हुई है। इसके अनुयाइयों का दावा है कि यह मार्क्सवादी थ्योरी है। लेकिन शुक्रिया ऐसे मार्क्सवाद का जो समाज के बौद्धिक जगत के तमाम संघटनों और परिवर्तन का सबब तुरंत और सीधे-सीधे आर्थिक आधार में ढूँढ़ लेता है। बात इतनी सीधी नहीं है। एक था फ्रेडरिक एंगेल्स जिसने यह बात ऐतिहासिक भौतिकवाद के बारे में बहुत पहले कही थी।

‘मैं समझता हूँ कि यह पानी के ग्लास की थ्योरी पूरी तरह गैर-मार्क्सवादी है और इसके अलावा समाज-विरोधी भी है। यौन जीवन में साधारण कुदरत का ही खयाल नहीं करना होता, बल्कि सांस्कृतिक विशेषताओं पर भी विचार करना होता है कि वे ऊँचे या नीचे स्तर की हैं। ‘परिवार की उत्पत्ति’ नाम के अपने ग्रन्थ में एंगेल्स ने दिखलाया था कि ‘आम यौन-वासना का विकास और एक-नारी-प्रेम (individual sex love) में उसका संस्कार कितना महत्वपूर्ण है। स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बन्ध समाज के अर्थतंत्र और शारीरिक माँग के बीच शक्तियों के घात-प्रतिघात का ही प्रतिफलन नहीं है, जो शारीरिक पहलू से, चिंतन में, अध्ययन द्वारा विलग हों। यह तर्कवाद (रैशनलिज्म) है, न कि मार्क्सवाद कि हम इन सम्बन्धों में तब्दीली को समाज की आर्थिक बुनियाद से नत्थी कर दें और सम्पूर्ण विचार-धारा से उनके सम्बन्धों को न देखें। निःसन्देह प्यास बुझानी चाहिए। लेकिन क्या कोई होश-हवास का आदमी साधारण परिस्थितियों में नाली में लेट जायगा और चहबच्चों से पानी पियेगा या ऐसे गिलास से पानी पियेगा जो बहुत से होंठ लगने से चिकना हो गया हो? लेकिन उसका सामाजिक पहलू सबसे महत्वपूर्ण है। पानी पीना बेशक किसी का निजी काम है।

लेकिन प्रेम में दो जिंदगियों का सम्बन्ध होता है और एक तीसरी नयी जिंदगी पैदा होती है। इससे उसमें सामाजिकता का सवाल उठता है, जिससे समाज के प्रति कर्तव्य पैदा होता है।

‘एक कम्युनिस्ट की हैसियत से मुझे पानी के ग्लास की थ्योरी से जरा भी हमदर्दी नहीं है हालांकि उस पर ‘प्रेम की वृत्ति’ का सुन्दर लेबिल लगा हुआ है। कुछ भी हो, यह प्रेम की मुक्ति न तो नयी है, न कम्युनिस्ट है।’

इस लंबे उद्धरण से जाहिर हो जायगा कि यशपाल ने आर्थिक बुनियाद के बदलने पर जिस तरह यौन-संबंधों के बदलने की कल्पना की है वह मार्क्सवाद है या पूँजीवादी नैतिकता (या पूँजीवादी व्यभिचार) का ही एक संस्करण है। उनके कथा-पात्रों में चरित्र की वह दृढ़ता नहीं है जो पूँजीवादी व्यभिचार को चुनौती दे, जो सर्वहारा नैतिकता को एक आदर्श के रूप में जनता के सामने रखे। दलील दी जाती है कि यशपाल ने यथार्थवादी उपन्यास लिखे हैं; आदर्शपात्र नहीं चित्रित किये। पहले तो आदर्शपात्र चित्रित करने और यथार्थवादी उपन्यास लिखने में कोई मौलिक विरोध नहीं है; यथार्थ में जो उभर रहा है, कल के समाज की नींव बनने वाला है, उस सत्य को उद्घाटित करना कथाकार का कर्तव्य हो जाता है। दूसरे यशपाल के पात्र एक वर्ग-विशेष और मनोवृत्ति के पात्र हैं और उनकी नैतिकता वंसी ही है जैसी जेनेन्द्र, अज्ञेय और अशक के पात्रों की। इसका नतीजा यह हुआ है कि यशपाल नारी की पराधीनता के वैसे चित्र भी नहीं दे पाये जैसे प्रेमचन्द ने पहले महायुद्ध के समय ही या वृन्दावनलाल वर्मा ने “लगन”, “कुण्डलीचक्र” आदि में या निराला ने “अलका” आदि में दिये हैं। यशपाल के उपन्यास नारी की पराधीनता के सवाल को यथार्थवादी ढङ्ग से छूते ही नहीं हैं। प्रगतिशीलता के नाम पर पूँजीवादी व्यभिचार का चित्रण करके वह एक तरफ तो प्रगतिशीलता को एक अच्छी रोजगार की चीज बना देते हैं, दूसरी तरफ उन ईमानदार पाठकों को प्रगतिशील साहित्य से दूर ठेल देते हैं जो पुराने साहित्य के अलावा इंसान की जिंदगी पर नये दृष्टिकोण से सोचना-विचारना भी चाहते हैं।

प्रगतिशील साहित्य नारी की स्वाधीनता का पक्षपाती है। वह सम्पत्ति,

जाति और धर्म के विचार से किये हुए विवाहों की वेदी पर देश के युवक-युवतियों के प्रेम की बलि देने का सख्त विरोधी है। वह उनके प्रेम करने के अधिकार और जीवन में एक साथ रहने और संघर्ष करने के अधिकार का समर्थन करता है। जब तक प्रेम के अतिरिक्त विवाह के लिये जाति, धर्म, सम्प्रदाय, सम्पत्ति आदि की शर्तें रहेंगी, तब तक समाज में व्यभिचार, वेश्या-वृत्ति, आदि व्याधियाँ भी रहेंगी। ये व्याधियाँ शुद्ध ग्लास से शुद्ध जल पीने की थ्योरी से दूर नहीं हो सकतीं। यह मार्क्सवाद के विपरीत सामन्ती-पूँजीवादी नैतिकता का प्रतिपादन होगा।

“चक्कर क्लब” का “कॉमरेड” कालिदास और रवीन्द्रनाथ के साहित्य पर यह राय देता है, “किसी समय के राजाओं और सामन्तों के लिये इसका उपयोग था। कामनापूर्ति के साधन उनके पास बहुतेरे थे; परंतु शरीर थककर शिथिल हो जाता था। कामना की आग को जलाने के लिए ऐसा साहित्य उपयोगी था जैसे अधिक भोजन पचा सकने के लिये चूरन का उपयोग होता है।”

जाहिर है, यह साहित्य के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण नहीं बल्कि उसकी फूहड़ नकल है।

“चक्कर क्लब” में हम पढ़ते हैं, “किसी की तृप्ति कवि रवीन्द्र की कविता में कामिनी को समीप बैठा कर हो जाती है तो किसी की साहित्यिक तृप्ति अंगिया दबाने की चर्चा किये बिना नहीं होती। क्यों जी, सिर खुजाते हुए कामरेड की ओर देख उन्होंने पूछा-- ‘क्या है वह गीत, न ताको जोबन सरकारी है, बच के रहोजी’।”

मार्क्सवाद को झुठलाकर पूँजीवादी नैतिकता को किस तरह “वैज्ञानिक” बनाकर पेश किया जाता है, ऊपर इसकी मिसाल है। यशपाल के पात्र यथार्थ जीवन का चित्रण करने के कारण फूहड़ नहीं है; उनके पास अपने फूहड़पन को वैज्ञानिक कहकर पेश करने के लिये एक थ्योरी भी है।

प्रसाद, निराला, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य में जिस नायिका-भेद का विरोध किया था, यशपाल ने उसे यथार्थ-चित्रण के नाम पर फिर प्रतिष्ठित किया है। “आँखें भी छुरे के फले जैसी लम्बी-लम्बी नोकदार, खूब

उजली । माथे पर त्योरी चढ़ा देखती तो ऐसा लगता, नज़र सीने में गड़ा देगी ।” यह किसी लोफर-पात्र की बातचीत नहीं है । खुद कलाकार यशपाल “पार्टी कॉमरेड” की नायिका का नखशिख वर्णन कर रहे हैं ।

और भी—

“शंख के समान ग्रीवा का मार्दव मुक्तावलियों से घिर कर और अधिक उद्भाषित हो रहा था । रक्त कौशेय में पीठ पीछे खिंचकर पूर्ण गोलार्द्ध बने उरोज बन्धन में आकर, बागुरा खिंचे अश्व की भाँति और अधिक मुखर हो उठे थे ।”

शरीर थककर शिथिल होने पर किसी सामन्त की कामना को उकसाने के लिये किसी दरबारी कवि ने यह नहीं लिखा । यह लिखा है “दिव्या” का नखशिख वर्णन करते हुए यशपाल जी ने । निःसन्देह नायिकाभेद के तमाम साहित्य में उरोज अश्व की भाँति मुखर होते हुए न तो दिखाई देंगे न सुनाई पड़ेंगे । इस बात में यशपाल सबसे बाज़ी मार ले गये हैं ।

“चक्कर क्लब” का “दार्शनिक” सामन्ती-पूँजीवादी विवाह प्रथा के मुकाबले में “घंटे भर प्रेम” का नुस्खा पेश करते हुए कहता है, “यदि स्त्री किसी को धोखा न देकर अपने हृदय की तृप्ति के लिये घंटे भर प्रेम करना चाहती है तो वह कुलटा है और यदि वह अपने जीवन और अपनी सन्तान के जीवन निर्वाह का कोई दूसरा उपाय न देख या समाज के भय से अपना शरीर जन्म भर किसी पुरुष की आवश्यकता पूर्ति के लिये दे देती है तो वह सती है !”

ज़ाहिर है, सती के नाम पर गुलामी और घंटे भर प्रेम यानी व्यभिचार के बीच प्रेम का रास्ता भी है लेकिन ‘चक्कर क्लब’ का दार्शनिक उसका विवेचन नहीं करता ।

“प्रतिष्ठा के बोझ” का केवलचन्द पड़ोस की सास-बहू से एक साथ प्रेम करके घंटे में एक नहीं दो प्रेम निबाहता है । केवलचन्द जब बहू लक्ष्मी के कमरे में पहुँचा तो “उसने लक्ष्मी को बाहों में इतने जोर से समेट लिया कि जैसे उसे अपने शरीर में ही समो लेगा । वह उसके होठों को खा जाना चाहता था । उसके हाथ उच्छृङ्खल हो रहे थे ।” तभी बत्ती लिये कमरे में सास आ गई । केवलचन्द ने लक्ष्मी को फर्श पर गिर जाने दिया और “सास के भरपूर

शरीर को बाहों में ले, समीप पड़े पलङ्ग पर गिरा दिया ।” इसके बाद “जब सास ने केवल की बाहों से मुक्ति पायी तो केवल के गाल पर एक टुनका दे, उसने शिकायत की—बड़े बैसे हो तुम !”

गत्यात्मक यथार्थवाद ! सबसे आसान क्रान्ति यौन सम्बन्धों में होती है । यह क्रान्ति हमारे यहाँ सिंहासन बत्तीसी और किरसा तोता मैना में ज्यादा कलापूर्ण ढङ्ग से पहले ही हो चुकी थी ।

मालूम होता है, ये तमाम केवलचंद ‘मनुष्य के रूप’ में कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में इकट्ठे हो गये हैं । मनोरमा जब अपने नपुंसक पति को तलाक देकर आती है तो ‘बहुत से कामरेड अपनी-अपनी जगह छोड़ संकोच से सिमटी जाती मनोरमा को घेर कर खड़े हो गये । उमेश ने गर्दन ऊंची कर बहुत जोर से पुकार कर कहा—‘तो फिर अब !’ और प्रोत्साहन की मुद्रा से हृदय पर हाथ रख लिया । पारो ने उमेश को कंधे से धक्का देकर फटकारा—हट, पागल ! मंगल बोला—आखिर कोई तो आशा कर सकता है !..... न्यू बस हैज कम (नई गाड़ी चल रही है ।)”

यशपाल के लिये सेक्स की तरफ मार्क्सवादी दृष्टिकोण क्या है, यह खुद मार्क्सवादियों के अमल से उन्होंने यहाँ दिखला दिया है । इस तरह का साहित्य जनता की सेवा किस तरह करता है और हमारी जातीय संस्कृति को किस तरह आगे विकसित करता है, यह बात हमारी समझ में नहीं आई । इस दृष्टिकोण के लिये जहाँ यशपाल जिम्मेदार हैं, वहाँ उन आलोचकों की जिम्मेदारी भी कम नहीं है, जो उनके कथा-साहित्य की प्रगतिशीलता का नमूना कहकर उसकी तारीफ़ करते रहे हैं ।

यशपाल जी की तरह राहुल जी ने नायिकाभेद में यथेष्ट उन्नति की है । उनका नायिकाभेद ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम पर, सामाजिक विकास-क्रम में मनुष्य के आचार-विचार के चित्र देने के नाम पर है । एंगेल्स ने लिखा है कि पूंजीवादी लेखक जब आदिम व्यवस्था का चित्रण करते हैं, तब वे उसे मौजूदा पूंजीवादी समाज के व्यभिचार का चश्मा लगा कर देखते हैं । ‘वोल्गा से गङ्गा’ में राहुल जी ने भी आदिम समाज-व्यवस्था के चित्र इसी तरह का चश्मा लगाकर खींचे हैं ।

“दिवा अपने तरुण पुत्र बसु के साथ आज नाच रही थी। दोनों नग्न मूर्तियाँ नृत्य के ताल में ही कभी एक दूसरे को चूमती, कभी आलिंगन करती, कभी चक्कर काट कर भिन्न-भिन्न नाट्य मुद्राएं दिखलातीं।” (पृ० २८)

अवस्था के लिहाज़ से प्रेमी-प्रेमिकाओं के गुट बनना आदिम समाज में बहुत शुरु की मंजिलों में आरम्भ हो जाता है। फिर यह समाज तो चक्कर काट कर नाट्य मुद्राएं बनाना तक जान चुका है। राहुल जी का चित्र विकृत और इतिहास-विरोधी है।

आधिकस्य अधिकं फलम् के न्याय से राहुल जी सुन्दर नायिकाओं का काफ़िला इकट्ठा कर देते हैं। कैसा भाग्यशाली है सुदास ! “नहाते वक् कितनी ही बार सुदास ने अपाला के नग्न अरुण शरीर को देखा; किन्तु आज पचासों नग्न सुन्दरियों के बीच उसके सौन्दर्य की तुलना कर, उसे पता लगा, जैसे आज ही उसने अपाला के लावण्य की पूरी परख पायी है।”

(पृ० १०७-८)

इसमें राहुल जी का क्या दोष ? वह तो ऐतिहासिक सत्य बयान कर रहे हैं ! इस पर कोई नाक-भौं क्यों सिकोड़े ?

सवाल ऐतिहासिक सत्य का ही नहीं है। सवाल यह है कि इस तरह सामन्तों के अन्तःपुर का सौन्दर्य वर्णन करनेवाले कवियों की रचनाएँ राहुलजी को पसन्द हैं या नहीं ? वह दरबारी कवियों के इस नायिकाभेदी दृष्टिकोण के प्रति क्या रुख रखते हैं ?

राहुल जी “हिंदी काव्य धारा” में ऐसे ही एक कवि स्वयम्भू के बारे में लिखते हैं, “और सामन्त समाज के वर्णन में उसकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती। किसी एक सुन्दरी के सौन्दर्य को जितना अच्छी तरह उसने चित्रित किया है, वह तो किया ही है, लेकिन सुन्दरियों के सामूहिक सौन्दर्य का वर्णन करने में उसने कमाल कर दिया है।”

स्वयम्भू का अनुकरण करते हुए राहुल जी ने ऐतिहासिक भौतिकवाद को सामूहिक सौन्दर्य के वर्णन से सरस बना दिया है। “सिंह सेनापति” में पूँजी-वादी लेखक का आदर्श समाज साकार हो उठता है जब हम पढ़ते हैं, “देव कन्याएँ मंडल बाँधकर मुझे बीच में लिये नाच रही थीं। बीच बीच में जब

मैं थककर विश्राम लेता, तो मधु क्षीर मिश्रित सोम का चषक ले देवांगनाएँ आदर पूर्वक मुझे पिलाने के लिये तैयार रहतीं ।” (पृ० ६८)

और भी—

“वहाँ प्रत्येक देवी उन्मुक्त देवी है, वह किसी की भार्या नहीं । वह पद्मसर में विहरने वाली भ्रमरी है, और चाहे जिस भी पद्मकोश में रात को बंद होने के लिये स्वतन्त्र है ।” (पृ० ६९)

सुन्दर ! स्वच्छ ग्लास में स्वच्छ पानी ! आदर्श साम्यवाद !

पुनश्च: “वह मुझे पुष्पित बन में ले जातीं, वहाँ अपने केशों को वनकुसुमों से सजाकर मेरे गिर्द बैठ कोई मेरे कानों में फूल रखती, कोई केशों में खज बाँधती, कोई मेरे कन्धे पर अपने कपोलों को रख पूछती—‘प्रिय ! कैसी हैं वे मानवियाँ, जिनके लिये तुम हमें छोड़ जाना चाहते हो ?”

इस तरह ध्वस्त होती हुई सामंती संस्कृति को राहुल जी ने ऐतिहासिक चित्रण के नाम पर साहित्य में सुरक्षित रखा है । सामन्तों के कल्पित स्वर्ग से इस समाज में क्या अन्तर है ? अन्तर केवल इतना है कि राहुल जी अपनी नायिकाओं की नस्ल का बड़ा खयाल रखते हैं । उनके नेत्र नीले और केश पीले होने चाहिए । दिवा के नेत्र असली के फूल जैसे नीले हैं । नागदत्त कहानी में एक अनुपम सुन्दरी के शिर पर “मानों सुवर्ण के सूक्ष्म तन्तुओं को वलित करके सजाया गया था ।” अश्वघोष की माँ के नेत्र सुवर्ण जैसे पीले हैं । जब शुद्ध आर्य रक्त वाले देव और देवियाँ मिलते हैं तब उनके केश-दाढ़ी-सम्मेलन से विचित्र दृश्य उपस्थित होता है, “उस वक्त देवों के केश दाढ़ियाँ तथा देवियों के सीमान्त अग्निस्कंध से निकलती ज्वाला रश्मियों से मालूम होते हैं ।” (सिंह सेनापति, पृ० ६७)

राहुल जी के लिये इतिहास की मूल समस्या है—रक्त शुद्धि । आर्यों का जनतंत्र भ्रष्ट होता है, रक्त सम्मिश्रण की वजह से । और सामाजिक विकास की हर मंजिल में एक क्रिया साधारण है—मुक्त प्रेम ! इस दृष्टि से समाज में कोई विकास नहीं हुआ या कहना चाहिये कि प्रेम और सौंदर्य के मामले में मनुष्य पूर्ण विकसित ही रचा गया था !

इतिहास को देखने की हमारे यहाँ एक और परम्परा है । वह परम्परा

निराला की 'प्रभावती', वृन्दावनलाल वर्मा की भौंसी की रानी 'लक्ष्मीबाई' में दिखाई देती है। इस परम्परा में जनता अन्याय अत्याचार से पीड़ित और उसके खिलाफ संघर्ष करती हुई भी दिखाई जाती है। प्रभावती में निरालाजी कहते हैं, "वह और ही युग था। एक ओर गाँवों में गरीब किसान छुपनों के नीचे, दूसरी ओर दुर्ग में महाराज धनधान्य और हीरे-मोतियों से भरे प्रासादों में, फिर भी उन्हीं के फैसले के लिये, न्याय के लिये, जाना और उन्हें भगवान का रूप मानना पड़ता था।" वैज्ञानिक भौतिकवाद पर किताब लिखने के बावजूद राहुलजी में इस जनवादी दृष्टिकोण का अभाव है। वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में बुन्देलखंड की जनता सजीव हो उठती है, अपनी जातीय विशेषताओं के साथ जिनमें उसकी रोमांसप्रियता भी शामिल है। वर्मा जी के उपन्यासों में जहाँ किसान-युवकों की सहज उमंग का वर्णन मिलता है, वहाँ राहुलजी के उपन्यासों में किसी व्यभिचारी महंत के विलास-स्वप्न ही दिखाई देते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास हमारे जातीय आत्मसम्मान को जगाते हैं, पूर्व पुरुषों के वीर कृत्यों का वर्णन करके साहस पूर्वक अन्याय का विरोध करना सिखाते हैं। विशेष रूप से ब्रिटिशराज के खिलाफ हमारी जनता के संघर्षों को लेकर लिखे गये उपन्यास आज की परिस्थिति में भी शान्ति और स्वाधीनता के संघर्ष में हमारी बहुत बड़ी सहायता करते हैं। इस दृष्टि से वर्माजी का 'लक्ष्मीबाई' उपन्यास अनुपम रचना है। उसमें हिंदू-मुस्लिम जनता का मिला-जुला संघर्ष, अंग्रेजों के पाशविक अत्याचार, सामन्ती नायकों की शिथिलता और विलासिता जो देश के प्रति विश्वासघात की सीमा तक पहुँच जाती है, बुन्देलखंड की जनता का जीवन में अडिग विश्वास और देशप्रेम,—यह सब वर्मा जी ने बड़े कौशल से उपन्यास में दिखाया है। उनके साधारण पात्र भी स्मृति-पटल पर अङ्कित हो जाते हैं और अपने व्यक्तित्व में निराले होते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में हमें वह परम्परा अपनानी चाहिए न कि मुखर अश्व जैसे कुच्चों वाली नायिकाओं और चाहे जिस पद्मकोश में बंद हो जाने वाली भ्रमरियों की परम्परा।

इसी तरह मध्यवर्ग के चित्रण में हमें प्रेमचन्द की 'इस्तीफा' जैसी कहा-

नियों की परम्परा अप्रतनी चाहिये। मध्यवर्ग के जीवन की समस्याएँ किसान मजदूरों के जीवन की समस्याओं से काफी हद तक मिलती हैं। अक्सर हमारे कलाकार शिकायत करते हैं, हम तो किसान-मजदूरों को जानते नहीं, फिर क्या मध्यवर्ग के बारे में भी न लिखें ? अवश्य लिखें लेकिन क्या लिखें ?

कुछ कलाकारों के लिए मध्यवर्ग की जिंदगी के चित्रण का मतलब होता है, सेक्स सम्बन्धी विकारों का चित्रण। इसके सिवा उन्हें आज के समाज की चक्की में उनका जीवन पिसता हुआ नहीं दिखाई देता, कहीं वे उस चक्की के पाटों के खिलाफ कसमसाते नजर नहीं आते।

कुछ कलाकार मध्यवर्ग का बहाना करके उसी सुनीतावादी परम्परा का अनुकरण करते हैं।

अशक की 'गिरती दीवारें' में अनन्त चेतन को सलाह देता है कि जब पम्प पर प्रकाशो पानी लेने आये तब वह उसे पकड़ कर अन्दर ले आये। प्रकाशो के आने पर तीन चार बार अनन्त ने चेतन के कुहनी गड़ाई लेकिन वह टस से मस न हुआ और प्रकाशो 'बाल्टी उठाकर अपने मोटे-मोटे ओठों से मुस्कराती और अपने भारी कूल्हे मटकाती हुई चली गई।' अनन्त ने फतवा दिया कि "वह एकदम नपुंसक है।" कहीं श्री धर्मवीर भारती ने कथा साहित्य के नपुंसक-नायकों पर लेख लिखा था। अशक जैसे कलाकार उनकी संख्या इतनी तेजी से बढ़ा रहे हैं कि भारती जी अब उन पर पूरा थोसिस लिख सकते हैं।

नीला और चेतन की प्रेम कहानी पर 'गिरती दीवारें' के लम्बे-लम्बे अध्याय पढ़ते हुए आदमी ऊब उठता है। इस कदर उथलापन हिन्दी उपन्यासों में मुश्किल से मिलेगा। कहीं प्रकाशो के सिर से दुपट्टा खिसक जाता है, उसकी छोटी आँखें कुछ विचित्र आकांक्षा से फैल जाती हैं और चेतन का जी चाहता है कि 'उसे अपने आलिंगन में लेकर दबाये कि उसका दम निकल जाय।' लेकिन वह उसके चुटकी काट कर रह जाता है। और बदले में प्रकाशो उसके चुटकी काट लेती है। महान् मनोवैज्ञानिक चित्रण ! हाँ एक बार चेतन ने प्रकाशो के पतले ढलाउज में छाती के मोटे से बटन पर चुटकी काट दी ! महान् यथार्थवादी चित्रण !

शेखरपंथियों का सबसे बड़ा सहारा है बीमारी। चेतन भी बिस्तर पर जा लेटता है और “उसने अपने मस्तक पर ठण्डा, प्यारभरा हाथ फिरता हुआ महसूस किया और उसके कानों में आवाज़ आई—मधुर और मादक-जीजाजी !” यह नीला थी।

और जब नीला उसके ऊपर झुक जाती है—सूखे सोते पर सप्तपर्णी की तरह—तब ‘एक बार उसे प्रबल आकांक्षा हुई कि उसके गले में बाहें डालकर वह उसे चूम ले। पर उसने बालों को ही चूमा।’

दूसरी बार “अपनी पीठ के साथ नीला के स्वस्थ वक्ष का परस और उष्णता अनुभव करते ही चेतन के हाथ फिर काँपने लगे।”

और जब नीला दूध का खाली गिलास अलग रखकर हटने लगी तो “अचानक दायें हाथ से उसे अपने आलिगन में भर कर चेतन ने उसे चूम लिया।”

ड्रॉपसीन।

नतीजा यह कि चेतन को लगता है कि संसार के सभी पुरुषों के बीच अग्नित दीवारें खड़ी हैं, इन दीवारों का कोई अन्त नहीं है। यथार्थ को इस गत्यात्मक रूप में श्री उपेन्द्रनाथ अशक ने देखा है। साहित्य के छिछलेपन का दूसरा नाम है अशक।

सन् ३४-३५ के बाद से हिन्दी में यह साड़ी-जम्पर साहित्य की परम्परा बढ़ती, फलती-फूलती रही है। इसे कुछ लोग प्रगतिशील क्यों कहते हैं, यह समझना कठिन है। यह प्रसाद के “तितली” और प्रेमचन्द के “गोदान” की परम्परा को आगे नहीं बढ़ाती बल्कि उसका सक्रिय विरोध करती है। इस शेखर-चेतनवाद को प्रगतिशील ठहराने के लिये ही मानों प्रगतिशीलता की शुद्ध कलावादी परिभाषाएँ की जाती हैं जिनमें जनताकी तरफ़ लेखक की ज़िम्मेदारी अस्वीकार की जाती है। अब यह परम्परा अपने हास की सीमा तक पहुँच गई है और ज़्यादा दिन तक हिन्दी पाठकों को उससे बहलाया न जा सकेगा।

प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता

१६३६ की गर्मियों में हमारे यहाँ एक नया साहित्यिक आन्दोलन आरंभ हुआ। यह प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन था। प्रगतिशील लेखकों के पहले सम्मेलन का सभापतित्व प्रेमचंद ने किया। उन्होंने उस साहित्य की तीखी आलोचना की जिसमें लेखक कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। उन्होंने उन कवियों की आलोचना की जिनके लिये प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था और सौन्दर्य का आँखों को। उनके भाषण से यह बिलकुल स्पष्ट है कि जीवन से पराङ्मुख रहने वाला साहित्य उन्हें नापसन्द था। उन्होंने एक नये साहित्य की रचना के लिये आह्वान किया था जिसका जीवन से गहरा लगाव हो।

क्या यह आन्दोलन उस समय आवश्यक था? यदि आप उस समय के हिन्दी साहित्य पर ध्यान दें तो साफ दिखाई देगा कि हिन्दी में निराशावाद और व्यक्तिवाद की जड़ें मज़बूत हो रही थीं। बचन और अज्ञेय इस निराशावाद और व्यक्तिवाद के प्रतीकरूप में सामने आये थे। उर्दू में पुरानी दरबारी परंपरा का गहरा असर था। इनके साथ जीवन से पराङ्मुख होने का एक और रूप था—अध्यात्मवाद। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विशेष रूप से अनन्त की ओर दौड़ने का विरोध किया था। प्रेमचंद ने हिन्दी-उर्दू साहित्य की इन्हीं विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए कहा था, “ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं।” हिन्दी-उर्दू में अब भी आशिकों और बैरागियों की कभी नहीं है; प्रेमचंद की आलोचना सन् ३६ में तो सेलह आने उचित ही थी।

स्वयं प्रेमचंद इस नये साहित्यिक आन्दोलन को आवश्यक समझते थे, इसके अनेक प्रमाण हैं। प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन का सूत्रपात करने-

वालों की एक सभा की चर्चा करते हुए अहमद अली ने “हंस” में लिखा था, “वहाँ मुन्शी प्रेमचंद, मौलाना अब्दुल हक और मुंशी दयानारायण निगम सरीखे ऐसे बड़े-बड़े लोग मौजूद थे जिन्होंने साहित्य की उन्नति के लिए बहुत बड़े-बड़े काम किये थे और हममें से नई पीढ़ी वाले कुछ ऐसे लोग भी थे जिनके कन्धों पर नये और अधिक दृढ़ साहित्यिक आन्दोलन चलाने का भार आ पड़ा था” । (“हंस,” प्रेमचन्द स्मृति-अंक) । इस सभा में कुछ लोगों ने नये आन्दोलन को आवश्यक समझा, कुछ ने उसके बारे में शंकाएँ भी प्रकट कीं । इस संबंध में प्रेमचन्द का रख ध्यान देने योग्य है । “मुं० दयानारायण निगम को इस संबंध में कुछ निराशा और सन्देह सा हो रहा था; लेकिन प्रेमचंदजी ने उस समय एक मार्के की बात यह कही कि प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन के लिए हमारा देश तैयार हो गया है और हम लोग एक बहुत ही उपयुक्त और शुभ अवसर पर इस एसोसिएशन का आरंभ कर रहे हैं ।” (उप०)

प्रेमचंद की यह धारणा बिल्कुल ठीक थी कि प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन का आरंभ करने के लिये वह उपयुक्त समय था । साहित्य की पतनशील धाराओं रोकने को और लेखकों का मन आशिकी और बैरागी की ओर से हटाने के लिये वह आवश्यक था । प्रेमचंद ने इस नये आन्दोलन की आवश्यकता पर उस सभा में ही अपना मत प्रकट न किया था, उन्होंने ‘हंस’ में भी इस विषय में अनेक बार लिखा था ।

अप्रैल सन् ३६ के ‘हंस’ में उन्होंने प्रगतिशील लेखक-संघ के बारे में लिखा था, “जैसा इसके नाम से ज़ाहिर है, संघ उस साहित्य और कला-प्रवृत्ति का पोषक है, जो समाज में जागृति और स्फूर्ति लाये, जो जीवन की यथार्थ समस्याओं पर प्रकाश डाले ।” यथार्थ समस्याओं पर प्रकाश डाले, काल्पनिक समस्याओं में न उलझा रहे, ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी ।

मई सन् ३६ के “हंस” में उन्होंने फिर प्रगतिशील लेखक-संघ के बारे में लिखा था, “इस संघ का उद्देश्य, जैसा हम पहले लिख चुके हैं, साहित्य और कला में प्रगति पैदा करना, जीवन की यथार्थताओं का चित्रण करना और जनता के दुःख-सुख और कशमकश की पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति करके

उस उज्ज्वल भविष्य की ओर ले जाना है, जिसके लिये आज विश्व का मानव समाज कोशिश कर रहा है ।” इस एक सारगर्भित वाक्य में प्रेमचन्द ने बहुत ही स्पष्ट रूप से नये आन्दोलन का उद्देश्य प्रकट कर दिया था । नया साहित्य साधारण जनता का साहित्य हो, उसके जीवन-संघर्ष को अभिव्यञ्जना दे, वह यथार्थताओं का चित्रण करे यानी यथार्थवाद की ओर उन्मुख हो, वह कला में भी प्रगति उत्पन्न करे—ये उद्देश्य प्रेमचन्द के सामने थे । साथ ही यह साहित्य अपने सामने एक भव्य सामाजिक उद्देश्य भी रखता था । यह उद्देश्य समाजवाद था । जिस उज्ज्वल भविष्य की ओर विश्व का मानवसमाज बढ़ रहा है, वह समाजवाद ही है । यह बात प्रेमचन्द के अन्य निबन्धों, जैसे “महाजनी सभ्यता”, से भी स्पष्ट हो जाती है । समाजवाद के लिये उन्होंने “महाजनी सभ्यता” में लिखा था, “जो शासन-विधान और समाज व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिये भी हितकर होगी । हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुरगे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जनसाधारण को बहकायेंगे, उसकी आँखों में धूल भोंकेंगे, पर जो सत्य है, एक-न-एक दिन उसकी विजय होगी और अदृश्य होगी ।” समाजवाद की विजय में यह दृढ़ विश्वास उस समय विश्व और भारत की परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ था । अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का सबसे प्रबल विरोधी था समाजवादी सोवियत संघ । पूँजीवाद के नये हिंसक रूप फाशिस्तवाद का सबसे प्रबल विरोधी था समाजवादी सोवियत संघ । भारतीय स्वाधीनता का सबसे प्रबल समर्थक था समाजवादी सोवियत संघ । इसलिये भारत के सभी जागरूक विचारकों की दृढ़ सहानुभूति सोवियत संघ के प्रति थी । साथ ही कांग्रेसी नीति से असंतुष्ट कार्यकर्ता भारत में भी समाजवादी दल संगठित कर रहे थे । कांग्रेस के भीतर ही जयप्रकाश नारायण, स्वर्गीय भारद्वाज आदि नेता एक नयी विचारधारा देश के सामने रखने लगे थे । इसलिये प्रेमचन्द जैसे लेखकों का समाजवाद से प्रभावित होना बिल्कुल स्वाभाविक था ।

प्रेमचन्द ने अप्रैल सन् ३६ में प्रगतिशील लेखकों के प्रथम अखिल भारतीय सम्मेलन का सभापतित्व करके इस नये युगान्तरकारी आन्दोलन का

सूत्रपात किया। सितम्बर १९३६ के “हंस” में इस सम्मेलन के बारे में उन्होंने लिखा था, “गत नौ और दस अप्रैल को लखनऊ में उसने अपना वार्षिक अधिवेशन इन पंक्तियों के लेखक के सभापतित्व में मनाया था, जिस में भारत के सभी प्रान्तों के कलाकारों ने भाग लिया था। यह निर्विवाद साहित्य में प्रगतिमान परिवर्तन का द्योतक था।” प्रेमचंद ने उस सम्मेलन का सही मूल्याङ्कन किया था। वह सम्मेलन भारतीय साहित्य के भीतर होनेवाले परिवर्तन का सूचक था। इस सम्मेलन में प्रेमचन्द ने साहित्यकार से जनता का पक्ष लेने के लिये उसका आह्वान करते हुए कहा था, “जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है।” साधारणतः हिन्दी पाठकों और लेखकों ने प्रगतिशील साहित्य का यही उद्देश्य समझा है कि वह गरीब जनता का पक्ष लेता है या उसे लेना चाहिए। प्रेमचन्द ने जीवन भर और किया क्या था? उन्होंने मानों अपने सारे अनुभव का सार निचोड़कर इस वाक्य में रख दिया था। सन् ४० तक के हिन्दी साहित्य पर जो भी ध्यान देगा, उसे विश्वास हो जायगा कि हिन्दी के प्रमुख लेखक जनसाधारण के जीवन की ओर नये सिरे से ध्यान दे रहे थे। सन् ३४ में स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद का “तितली” उपन्यास प्रकाशित हुआ जो प्रेमचन्द-परम्परा में एक आगे बढ़ा हुआ कदम है। सन् ३३ में निरालाजी ने “देवी”, “चतुरी चमार” आदि रेखान्चित्र लिखे जो हिन्दी के यथार्थवाद को नयी देन हैं। सन् ३३ में बलभद्र दीक्षित पढ़ीस ने श्रवधी में अपनी कविताएँ प्रकाशित कीं जिनका किसानों के जीवन से बहुत गहरा सम्बन्ध था। आगे चलकर महादेवी जी वर्मा ने अपने रेखान्चित्र और सुमित्रानन्दनजी पन्त ने अपनी कहानियाँ तथा “ग्राम्या” की कविताएँ प्रकाशित कीं जो यथार्थवाद की ओर इस व्यापक रुझान का बहुत बड़ा प्रमाण हैं।

अप्रैल सन् ३७ के “हंस” में प्रसादजी ने यथार्थवाद के बारे में लिखा था, “यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। इसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्तों के

अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुख और अभावों का वास्तविक उल्लेख ।”

“आधुनिक कवि” की भूमिका में महादेवी जी वर्मा ने लिखा है कि “छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रहा यह निर्विवाद है ।” साथ ही उन्होंने भावात्मक दृष्टिकोण अपनाने और जनसाधारण के जीवन में घुलमिल जाने पर जोर दिया है । जो लोग छायावाद को पलायनवाद कहते थे, उनका उचित विरोध करते हुए उन्होंने छायावाद की सीमाओं का उल्लेख भी किया है, “छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य लोक में ही यह भावात्मक दृष्टिकोण मिला, इसीसे वह अपूर्ण है ।” इससे एक नये और अधिक पूर्ण साहित्य की आवश्यकता पर प्रकाश पड़ता है । साथ ही उन्होंने केवल बौद्धिक दृष्टिकोण का भरोसा करने वालों को चेतावनी भी दी है । “परन्तु यदि इसी कारण हम उसके स्थान में केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर जीवन की पूर्णता में देखना चाहेंगे तो हम भी असफल रहेंगे ।” इन शब्दों पर ध्यान देना आज और भी आवश्यक है क्योंकि अनुभव ने अच्छी तरह दिखा दिया है कि भावात्मक दृष्टिकोण के अभाव में केवल विचारधारा के बल पर प्रगतिशील लेखक कलात्मक और प्रभावशाली साहित्य नहीं रच सकते ।

महादेवी जी ने बड़े ही ओजस्वी शब्दों में साहित्यकार के कर्तव्य बतलाते हुए लिखा है । “इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्नद्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही एक मार्ग शेष है कि वह अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण संवेदन शक्ति के साथ जीवन में घुलमिल जाये । उसकी केवल व्यक्तिगत सुविधा असुविधा आज गौण है, उसकी केवल व्यक्तिगत हार जीत आज मूल्य नहीं रखती, क्योंकि उसके सारे व्यक्तिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है । ऐसी क्रान्ति के अवसर पर सच्चे कलाकार पर—‘पीर बवर्ची भिश्ती खर’ की कहावत चरितार्थ हो जाती है—उसे स्वप्नद्रष्टा भी होना है, जीवन के कुत्ताम निम्न स्तर तक मानसिक खाद्य भी पहुँचाना है, तृप्ति मानवता को

संवेदना का जल भी देना है और सबके अज्ञान का भार भी सहना है। उसी के हृदय के तार इतने खिंचे सधे होते हैं कि हल्की सी साँस से भी भङ्ग हो सकें, उसी के जीवन में इतनी विशालता संभव है कि उसमें सबके वर्ग-भेद एक होकर समा सकें और उसी की भावना का अंचल इतना अछोर बन सकता है कि सबके आँसू और हँसी संचित कर सके। सारांश यह कि आज के कवि को अपने लिए अनागरिक होकर भी संसार के लिए गृही, अपने प्रति वीतराग होकर भी सबके प्रति अनुरागी, अपने लिये संन्यासी होकर भी सबके लिए कर्मयोगी होना होगा, क्योंकि आज उसे अपने आपको खोकर पाना है।”

स्वाधीनता प्राप्ति के दस वर्ष बाद भी ये शब्द प्रत्येक देशप्रेमी लेखक के लिये घोषणापत्र का काम करते हैं। साथ ही वे एक शक्तिशाली साहित्यिक आन्दोलन की आवश्यकता की ओर भी संकेत करते हैं।

सन् ३८ में पन्तजी ने ‘रूपाभ’ निकाला और उसके पहले अङ्क में उन्होंने अपनी कैफियत देते हुए लिखा, “कविता के स्वप्न भवन को छोड़कर हम इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आये, इस सम्बन्ध में दो शब्द लिखना आवश्यक हो जाता है। इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है, उसमें प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्नजडित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री ग्रहण करने के लिये कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। और युग जीवन ने उसके चिरसंचित सुखस्वप्नों को जो चुनौती दी है, उसको उसे स्वीकार करना पड़ रहा है।”

पाठक देखेंगे कि पन्तजी ने यहाँ जो विचार प्रकट किये हैं, वे वही हैं जो प्रेमचन्द ने सन् ३६ में प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन में प्रकट किये थे। प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन को लोग क्या समझते थे, कौन सी नयी विचार-धारा उसे प्रभावित कर रही थी, उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता क्या थी—

इन प्रश्नों का बहुत स्पष्ट उत्तर पन्त जी के उपर्युक्त शब्दों में मिलता है। पंतजी ने समाज-व्यवस्था की जर्जर अवस्था देखी थी, उसके बदले एक नयी व्यवस्था रचने की आवश्यकता अनुभव की थी। इस कार्य में साहित्यकार के उत्तरदायित्व पर जोर देते हुए उन्होंने लिखा था, “हमारा समाज अपनी ही रूढ़ि रीतियों के भार से जर्जर हो रहा है। हमारा उद्देश्य इस इमारत में थूनीयाँ लगाने का कदापि नहीं जिसका कि गिरना अवश्यंभावी है। हम तो चाहते हैं उस नवीन के निर्माण में सहायक होना जिसका प्रादुर्भाव हो चुका है। वह नवीन समाज वैज्ञानिक विचारों और आदर्शों से पुष्टि पाता हुआ असंख्य जनता के कल्याण को ही अपना ध्येय मानता है। यदि हम में सत्य के प्रति वास्तविक उत्साह है तो हम अपने महान् उत्तरदायित्व की अवहेलना नहीं कर सकते।”

उन दिनों पन्तजी भारतीय रूढ़िवाद का विरोध करने के लिये लेखकों का आह्वान कर रहे थे, थूनीयाँ लगाने के बदले वह उस जर्जर सामन्ती व्यवस्था को आमूल परिवर्तित करने की घोषणा कर रहे थे। वह काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा से नवीन के निर्माण और विकास में सहायक होने के लिये कह रहे थे। उस समय वह अध्यात्मवाद के बदले वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित करने की बात कह रहे थे। उन्होंने ‘रूपाम’ द्वारा अनेक विचार-धाराओं के संघर्ष का अध्ययन करने का वचन दिया था जिसका उद्देश्य यह था—“और उसके फलस्वरूप अपने देश और समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों के ऊपर उस नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं जिसकी सहायता से हम जाति, वर्ग, देश, राष्ट्र की सीमाओं को तोड़ कर तथा धर्म और नीति सम्बन्धी विरोधी भावनाओं को जागृत करने का प्रयत्न कर सकें; और अपने मध्यवर्ग के संकीर्ण व्यक्तिवाद से हृदय को मुक्त कर सामूहिक जीवन की ओर अग्रसर होने का सन्देश दे सकें।” प्रेमचंद की तरह पन्तजी भी समाजवादी दृष्टिकोण, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, अपनाने के पक्ष में थे। यह देश में फैलती हुई समाजवादी विचारधारा का प्रभाव था। जीवन की वास्तविकता को देखो, अपना सामाजिक कर्तव्य पहचानो, रूढ़िवाद से नाता तोड़ो, वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाओ—नये साहित्यिक आन्दोलन

की यही मांगें थीं । क्या ये मांगें अनुचित थीं ? क्या ये मांगें इस नये साहित्यिक आन्दोलन की ऐतिहासिक आवश्यकता सिद्ध नहीं करतीं ? 'स्वभाभ' में पन्तजी का वह महत्वपूर्ण वक्तव्य क्या यह सिद्ध नहीं करता कि प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन की वह ऐतिहासिक आवश्यकता आज भी बनी हुई है ?

इस ऐतिहासिक आवश्यकता को प्रगतिशील लेखकों के घोषणापत्र में इन शब्दों में प्रकट किया गया था, "इस सभा का उद्देश्य यह है कि अपने साहित्य और दूसरी कलाओं को पुजारियों, पंडितों और अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकाल कर उन्हें जनता के निकटतम संसर्ग में लाया जाय, उनमें जीवन और वास्तविकता लाई जाय, जिससे हम अपने भविष्य को उज्ज्वल कर सकें । हम भारतीय सभ्यता की परम्पराओं की रक्षा करते हुए अपने देश की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेंगे । और आलोचनात्मक तथा रचनात्मक कृतियों से सभी बातों का संचय करेंगे जिससे हम अपनी मंजिल पर पहुँच सकें । हमारी धारणा है कि भारत के नए साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिये, और वह है हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनैतिक पराधीनता का प्रश्न । तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी हम में क्रियात्मक शक्ति आयेगी । वह सब कुछ जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता, अन्धविश्वास की ओर ले जाता है, देय है, वह सब कुछ जो हम में समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिये प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं ।" प्रेमचन्द ने 'हंस' में यह घोषणा पत्र उद्धृत किया था और उसका स्वागत करते हुए लिखा था, "हम इस संस्था का हृदय से स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि वह चिरंजीवी हो । हमें वास्तव में ऐसे ही साहित्य की जरूरत है और हमने यही आदर्श अपने सामने रखा है । हंस भी इन्हीं उद्देश्यों के लिये जारी किया गया है ।"

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन हमारे साहित्य और समाज की आव-

श्यकताओं से उत्पन्न हुआ था। इसीलिये उसने बहुत जल्दी एक व्यापक रूप धारण कर लिया। साथ ही वह विश्व के फाशिस्त-विरोधी आन्दोलन का एक अङ्ग था। उन दिनों नाज़ी जर्मनी महायुद्ध की घनघोर तैयारियों में लगा हुआ था। चीन पर जापानी साम्राज्यवादियों ने आक्रमण कर दिया था। युद्धवादी शक्तियाँ अपने देश की सांस्कृतिक शक्तियों को कुचल कर, प्रगतिशील पुस्तकों की होली जला कर, फाशिस्तविरोधी लेखकों को अनेक यातनाएँ देकर खूनी आतंक कायम कर रहीं थीं। युद्ध की तैयारियों के कारण मानवता का भविष्य संकट में था; मनुष्य ने अपने सुदीर्घ विकास में जो मानवमूल्य संचित किये थे, लगता था कि वे मिटने को हैं। भारत के लेखकों की सहज सहानुभूति महायुद्ध का विरोध करने वालों और शान्ति की रक्षा के लिये संघर्ष करने वालों के प्रति थी। अप्रैल सन् ३६ के 'हंस' में प्रेमचन्द ने लेखकों की क्रान्तिकारी भूमिका के बारे में लिखा था, "आज युद्धवाद से लड़ने वाले कौन लोग हैं ? यही अदीब। ऐसी कौन सी क्रान्ति है, जिसका बीजारोपण अदीबों ने न किया हो ?" भारत के प्रगतिशील लेखकों ने दूसरे महायुद्ध का विरोध करके विश्वमानवता का साथ दिया, अपने साहित्य की मानववादी परम्परा को सक्रिय रूप से निबाहा।

उस समय भी प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन का विरोध करने वालों की कमी नहीं थी। वे कहते थे, युद्धवाद का विरोध करना लेखकों को रूस की वैदेशिक नीति पर चलाना है। देश की स्वाधीनता का उद्देश्य सामने रखना साहित्य को राजनीतिक प्रचार मात्र बना देना है। ग़रीब जनता का साथ देना साहित्य में वर्ग-संघर्ष, हिंसा और घृणा को जन्म देना है। प्राचीन रूढ़िवाद का विरोध करना भारतीय संस्कृति का नाश करना है। समाजवादी आदर्श से प्रेरित होना पच्छिम की नकल करना है। ये सब आरोप आज भी दोहराये जाते हैं। इनसे प्रगतिशील साहित्य की उपयोगिता न तब खत्म हुई थी, न आज खत्म हुई है।

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन अखिल भारतीय आन्दोलन था। इस तरह का कोई भी साहित्यिक आन्दोलन उस समय देश में न था। इस आन्दोलन में यह क्षमता थी कि वह भारत की विभिन्न भाषाएँ बोलने वाली

जनता और उसके साहित्यकारों को एक दूसरे के निकट लाकर देश की एकता दृढ़ करे। यदि यह आन्दोलन शक्तिशाली रूप से आगे बढ़ता तो भारत के विभाजन की नौबत न आती। इसके सिवा हिन्दीभाषी क्षेत्र में हिन्दी और उर्दू के लेखकों को एक दूसरे के निकट लाने और साम्प्रदायिकता का विष दूर करने में इस आन्दोलन की विशेष उपयोगिता थी। प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू दोनों शैलियों के सम्मान्य लेखक थे। उनकी बात हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों के लेखक आदर और ध्यान से सुनते थे। उन्होंने साम्प्रदायिकता दूर करने, हिन्दी-उर्दू लेखकों को एक दूसरे के निकट लाने और इस तरह हिन्दी-भाषी जनता की जातीय संस्कृति को दृढ़ करने में अभूतपूर्व कार्य किया। आज भी भारत की जातियों में परस्पर द्वेष दूर करके उन्हें समानता और भाई-चारे के आधार पर एकता के दृढ़ सूत्र में बाँधने की आवश्यकता बनी हुई है। आज भी हिन्दी-उर्दू लेखकों को निकट लाकर अपनी मिली जुली जातीय संस्कृति को दृढ़ और विकसित करने की आवश्यकता विद्यमान है। इसलिये प्रेमचन्द ने जातीय संस्कृति के विकास के जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया था, उसकी आवश्यकता आज भी बनी हुई है।

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन ने उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त की हैं। वह भारत की विभिन्न भाषाओं के लेखकों को एक दूसरे के निकट लाया है। वह हिन्दी-उर्दू के लेखकों में बहुत कुछ एक सामान्य जातीय भावना पैदा कर सका है। हिन्दी में उसने नरेन्द्र, दिनकर, सुमन आदि की शक्तिशाली कविताएँ दीं। अमृतलाल नागर, नागार्जुन आदि के उपन्यास उस परम्परा में उत्पन्न हुए। आलोचना में उसने अपनी साहित्यिक परम्परा का मूल्याङ्कन करने का प्रयास किया और रूढ़िवाद का विरोध किया। कला की दृष्टि से उसने कविता की दुरूह शैली को सरल बनाया, कुल मिला कर साहित्य को लोकप्रिय रूप दिया। आज हिन्दी में जो आंचलिक उपन्यास लिखे जा रहे हैं, वे उस प्रगतिशील परम्परा का सहज विकास हैं। उसने लेखकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को लोकप्रिय बनाया और साम्प्रदायिकता और रूढ़िवाद का विरोध करना सिखाया। हिन्दू-मुस्लिम दंगों के दिनों में, बंगाल के दुर्भिक्ष के दिनों में, पिछले दिनों तीसरे महायुद्ध की तैयारियों का विरोध

करने में प्रगतिशील लेखकों ने अपनी सामाजिक जागरूकता का विशेष परिचय दिया है। इस आन्दोलन की सबसे महत्वपूर्ण सफलता यह है कि उसने साहित्यकार को एकान्त साधना के बदले जन-जीवन से नाता जोड़ना सिखाया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्रगतिशील लेखकों के नाम अपने सन्देश में कहा था, “जनता से अलग रह कर हम बिल्कुल अजनबी बन जायेंगे। साहित्यकारों को मनुष्यों से मिल जुलकर उन्हें पहचानना है। मेरी तरह एकान्तवासी रहकर उनका काम नहीं चल सकता। मैंने एक मुद्दत तक समाज से अलग रह कर अपनी साधना में जो ग़लती की है, मैं उसे समझ गया हूँ और यही वजह है कि यह सन्देश दे रहा हूँ। मेरी चेतना का तकाज़ा है कि मानवता और समाज से लगाव रखना चाहिये और प्रेम करना चाहिये। अगर साहित्य मानवता से तादात्म्य स्थापित न कर सका तो वह अपने लक्ष्य और आकांक्षाओं को पाने में विफल रहेगा। यह सत्य मेरे दिल में उस चिराग़ की तरह रोशन है जिसे कोई दलील या तर्क-वितर्क बुझा नहीं सकता।” महाकवि ने नम्रतावश अपने बारे में अत्युक्ति से काम लिया है, किन्तु उनकी उक्ति में सत्य का अंश है, इसमें सन्देह नहीं। रामचन्द्र शुक्ल ने जो अनवरत रहस्यवाद का विरोध किया था और इस लोक से नाता जोड़ने पर जोर दिया था, उस कार्य की अप्रत्यक्ष स्वीकृति रवीन्द्रनाथ के उपर्युक्त शब्दों में है। मानवता से तादात्म्य स्थापित करना—क्या इसके सम्बन्ध में शुक्लजी की यही व्याख्या न थी? क्या वर्तमान हिन्दी साहित्यकार भारतीय मानवता से तादात्म्य स्थापित कर सके हैं? यह प्रश्न फिर उस साहित्यिक आन्दोलन की आवश्यकता स्पष्ट कर देता है।

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन ने काफी सफलता प्राप्त की, लेकिन उसमें आरम्भ से ही अनेक कमजोरियाँ भी थीं, अनेक समस्याओं का उचित समाधान वह नहीं कर पाया और कुछ सामाजिक कारणों से भी उसे काफी क्षति पहुँची। इन पर यहाँ संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

इस आन्दोलन की सबसे बड़ी समस्या मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों तथा अन्य राष्ट्रीय और जनवादी लेखकों की एकता की समस्या रही है। प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है, यह एक

ऐतिहासिक सचाई है। मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्य एक और और मार्क्सवाद से अप्रभावित, उससे भिन्न विचारधारा से प्रभावित, राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य दूसरी ओर—दोनों ही तरह के साहित्य और साहित्यिकारों की एकता हमारी संस्कृति और समाज के लिये आवश्यक थी। यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है, मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्य की आवश्यकता ही क्यों हो ? यह तो वाद मात्र है, वह भी विदेशी; उससे अपना साहित्य बाँध कर उसे संकीर्ण क्यों बनाया जाय ?

मार्क्सवाद समाज को समझने और उसे बदलने का विज्ञान है। जो भी वर्तमान व्यवस्था को बदलना चाहता है, वह मार्क्सवाद का अध्ययन किये बिना नहीं रह सकता। मार्क्सवाद भारतीय समाज को समझने के लिये एक दृष्टिकोण देता है। उस दृष्टिकोण का उपयोग करके हम कौन सा कार्यक्रम निश्चित करते हैं और उस कार्यक्रम को व्यवहार में लाने के लिये कौन सी नीति अपनाते हैं, इसका कोई निर्धारित सूत्र मार्क्सवाद की किसी पोथी में नहीं है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने का अर्थ यह नहीं है कि हम साहित्य को किसी राजनीतिक कार्यक्रम से बाँध देते हैं वरन् उससे प्रभावित होने का अर्थ है, समाज और साहित्य की गतिविधि के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना। सन् ४७ के पहले भारत की विशेष परिस्थितियों में कांग्रेसी नेतृत्व की दुलमुल नीति के कारण सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संगत रूप से संघर्ष करने के लिये मार्क्सवाद की सामाजिक आवश्यकता थी। सन् ४७ के बाद देश में सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के अवशेष खत्म करके समाजवादी व्यवस्था रचने के लिये मार्क्सवाद की ऐतिहासिक आवश्यकता बनी हुई है। यदि समाज को समझने, उसे बदलने और नया समाज रचने के लिये वैज्ञानिक समाजवाद की आवश्यकता है, तो साहित्य के लिये भी वह उपयोगी होगा क्योंकि समाज को समझने, उसे बदलने और नया समाज रचने से साहित्य का गहरा संबंध है।

साहित्यिक क्षेत्र में जनता और साहित्य का संबंध समझने में, पुराने साहित्य का वैज्ञानिक मूल्यांकन करने में, कला को लोकप्रिय रूप देने में मार्क्सवाद हमारी सहायता करता है। भारतीय संस्कृति और विभिन्न जातियों

की प्रदेशगत संस्कृति का सम्बन्ध क्या है और क्या हो, हिन्दीभाषी जाँ का सांस्कृतिक नव निर्माण कैसे हो, साहित्य में विषयवस्तु और रूप का क्या संबंध है, दूसरे देशों की संस्कृति से हम क्या लें और क्या छोड़ें, इन और ऐसे अनेक प्रश्नों का समाधान पाने में मार्क्सवाद से सहायता मिलती है। मार्क्सवाद के विरोधियों की बात मानें तो साहित्य और समाज के लिये अनेक अहितकर परिणाम निकल सकते हैं। भारतीय संस्कृति का अर्थ हिन्दू संस्कृति है, इसलिये मुसलमानों को देशद्रोही कहो। भारतीय संस्कृति का अर्थ हिन्दू-मुसलमानों की मिली जुली संस्कृति है, इसलिये उर्दू साहित्य ही असली भारतीय साहित्य है और हिन्दी वाले सदा से साम्प्रदायिक, संकीर्ण और देहाती रहे हैं। संस्कृति के क्षेत्र में हम बंगालियों ने जितनी उन्नति की है, उतनी उन्नति कोई क्या करेगा अथवा बंगालियों ने सब माल कबीर और दूसरे सन्तों से चुराया है, इसलिये हिन्दीवाले ही सर्वश्रेष्ठ हैं। उत्तर भारत आर्यों का है और दक्षिण भारत द्रविड़ों का; आर्यों ने द्रविड़ों पर बड़े अत्याचार किये हैं और आज भी उत्तर भारत उसी तरह दक्षिण पर हिन्दी का आधिपत्य लादना चाहता है, सो हम द्रविड़ हिन्दी के बदले अंग्रेजी ही अपनाए रहेंगे। ये और इस तरह के अन्य स्वर आप आये दिन सुन सकते हैं। यदि इस कोलाहल को रोकना और जनता के हित में समाज को नव संस्कृति का निर्माण करना आवश्यक है तो मार्क्सवाद का अध्ययन और वैज्ञानिक ढंग से आज की समस्याओं को हल करना भी आवश्यक है।

अब दूसरा प्रश्न उठता है : यदि मार्क्सवाद का अध्ययन करना और उसकी सहायता से अपनी समस्याएँ सुलझाना बुरा नहीं है, तो मार्क्सवाद से विमुख, उससे मतभेद रखने वाले साहित्य को मिटा क्यों न दिया जाय ? यह क्यों न कहा जाय, मार्क्सवादी साहित्य जिन्दाबाद, बाकी साहित्य मुर्दाबाद ! इसका उत्तर यह है कि मार्क्सवादी लेखक जिन मूल्यों की रक्षा करना और जिन्हें विकसित करना चाहते हैं, वे गैरमार्क्सवादी लेखकों के यहाँ भी हैं, भले ही उतने संमत रूप में न हों, उतने दीप्त रूप में न हों, जितने संगत और दीप्त रूप में मार्क्सवादी चाहते हैं; फिर भी वे मूल्य उनके यहाँ वर्तमान अवश्य हैं। उदाहरण के लिए निराला जी के रहस्यवाद से मैं सह-

मत नहीं हूँ किन्तु उनके साहित्य की मूल धारा जनता की संवेदनाओं को लेकर चली है, ऐसा मेरा विश्वास है। निराला जी ने पन्त जी की तरह वैज्ञानिक दृष्टिकोण की बात नहीं की किन्तु अपनी सहज सहानुभूति से उन्होंने ऐसा साहित्य रचा है जो पन्त जी से (और हिन्दी के किसी भी मार्क्सवादी लेखक से) कहीं अधिक और सच्चे अर्थ में प्रगतिशील रहा है। लेखक की रचना उसके सामाजिक दृष्टिकोण का ही प्रतिफल नहीं होती, वह उसकी भावनाओं, संवेदनाओं का प्रतिफल भी होती है। इसलिए जो लोग भी साहित्य की उन्नति चाहते हैं, वे मार्क्सवाद से प्रभावित तथा उससे भिन्न दृष्टिकोण से रचे गये स्वस्थ साहित्य की एकता के प्रति उदासीन नहीं रह सकते। इसी कारण मार्क्सवादी लेखकों तथा अन्य राष्ट्रीय और जनवादी लेखकों की एकता आवश्यक है और इस एकता के बिना हमारा साहित्यिक आन्दोलन अपनी पूरी शक्ति से आगे नहीं बढ़ सकता।

यहाँ तीसरा प्रश्न उठता है, साहित्यकार क्यों संगठित हों? असंगठित रहते ही अपने-अपने ढँग से क्यों न साहित्य रचते रहें? क्या साहित्य की साहित्यता—साहित्य का कलात्मक सौंदर्य—सामाजिक उपयोगिता से भिन्न वस्तु नहीं है? इसका उत्तर यह है कि लेखक की सामाजिक विचारधारा उसके साहित्य पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालती है जिसके प्रति उदासीन और तटस्थ नहीं रहा जा सकता। यह प्रभाव साहित्य की विषयवस्तु पर ही नहीं पड़ता, उसके कलात्मक सौंदर्य से भी उसका गहरा संबंध है। प्रेमचन्द अपनी रचनाओं से देश की मुक्ति में सहायता करना चाहते थे, समाज की रूढ़ियों और अन्धविश्वासों को दूर करना चाहते थे। यह उनकी सामाजिक विचारधारा थी। इस विचारधारा के कारण उन्होंने किसानों के जीवन को गहराई से देखा, अपनी कला को लोकप्रिय रूप देने की कोशिश की, धनी वर्गों के चित्रण में उन्होंने कठोर आलोचना से काम लिया, गरीबों के चित्रण में उन्होंने विशेष सहानुभूति का परिचय दिया। इस तरह चरित्र-चित्रण तक में उनकी सामाजिक विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसके सिवा साहित्यकारों की रसानुभूति भी एक तरह की नहीं होती। किसी को तिलरमी और जासूसी उपन्यासों में ही रस मिलता है, किसी को भक्ति के

भजन गाने में, किसी को नायिकाभेदी नखशिख वर्णन में, इत्यादि। यदि सभी तरह की रसानुभूति श्रेयस्कर नहीं है तो कुसंस्कारों वाली रसानुभूति छोड़नी होगी। प्रेमचन्द ने ठीक कहा था, “हम तो कवि की सभी अनुभूतियों के कायल नहीं।” (“हंस”, मई १९३६)। वह साहित्य में ऐसी अनुभूति चाहते थे जिसका उद्देश्य हो “हमारी करुण भावनाओं को उत्तेजित करना, हमारी मानवता को जगाना”। (उप०)। इस कारण उनकी यह उक्ति भी सही नहीं है कि “साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है।” ऐसा होता तो आशिकी और बैराग के साहित्य का खंडन करना प्रेमचन्द के लिये आवश्यक न होता। साहित्य रचना के क्षेत्र में जो विभिन्न विचारधाराओं और भिन्न कोटि की रसानुभूतियों का भेद विद्यमान है, उसे आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। हानिकर विचारधारा और अस्वस्थ रसानुभूति से साहित्य की रक्षा करना हमारा कर्तव्य हो जाता है।

इससे परिणाम यह निकला कि लेखकों का संगठन आवश्यक है। हिंदी में मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्य आवश्यक है, मार्क्सवाद से अप्रभावित राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य से उसकी मैत्री भी आवश्यक है। दूसरे शब्दों में मार्क्सवादी तथा अन्य राष्ट्रीय और जनवादी लेखकों की दृढ़ एकता आवश्यक है।

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन यह समस्या सही तौर पर हल नहीं कर सका, इस कारण बारबार ये प्रश्न उठते रहे हैं कि क्या मार्क्सवादी लेखक ही प्रगतिशील होते हैं या प्रगतिशील साहित्य का मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह तो सभी स्वस्थ लेखकों का साहित्य है, या प्रगतिशील साहित्य कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम के अनुसार रचा हुआ साहित्य है अथवा कम्युनिस्ट-विरोधी साहित्य ही वास्तव में प्रगतिशील है।

इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथ्य यह है कि प्रगतिशील लेखकों में कम्युनिस्ट और गैरकम्युनिस्ट दोनों तरह के लेखक रहे हैं। प्रगतिशील लेखक मार्क्सवाद से प्रभावित रहे हैं लेकिन यह प्रभाव भिन्न-भिन्न प्रकार का रहा है। इस कारण साहित्य और समाज की अनेक समस्याओं के बारे में प्रगतिशील लेखकों के भीतर आरम्भ से ही काफी मतभेद रहा है।

माक्सवादी और गैर माक्सवादी साहित्य का सम्बन्ध न समझने के कारण प्रगतिशील लेखकों ने अनेक भूलों की हैं और उनसे साहित्यिक आन्दोलन को क्षति पहुँची है। दिसम्बर १९३८ में प्रगतिशील लेखकों का दूसरा अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ था। इसके घोषणा पत्र में कहा गया है : “प्राचीन संस्कृति के टूटने के बाद भारतीय साहित्य में यह घातक प्रवृत्ति रही है कि वह जीवन की वास्तविकताओं से पलायन करे। उसने यथार्थ से भाग कर निराधार अध्यात्मवाद और आदर्शवाद में शरण पाने का प्रयत्न किया है। नतीजा यह हुआ है कि वह रूप और विषयवस्तु की दृष्टि से निस्तेज हो गया है और उसने जड़वाद तथा निर्जीव और रुग्ण विचारधारा अपना ली है।” कहना न होगा कि मध्यकाल से अब तक के भारतीय साहित्य के प्रति यह धारणा एकदम ग़लत थी। पिछले साहित्य को निर्जीव, निस्तेज करार देकर घोषणापत्र ने प्रगतिशील लेखकों को नये मसीहा की भूमिका अदा करने को कहा था। उसने प्रगतिशील लेखक संघ का यह उद्देश्य बतलाया था कि वह “साहित्य और अन्य कलाओं को उन रूढ़िवादी वर्गों से बचाए जिनके हाथ में वे इतने दिनों तक सड़ते रहे हैं (डिजिनरेटिंग सो लौंग)।”

इस दृष्टिकोण से माक्सवाद का क्या संबंध है ? माक्सवाद के अनुसार वर्ग-युक्त समाज में जहाँ निहित स्वार्थों की संस्कृति होती है, वहाँ साधारण जनता की अपनी संस्कृति भी होती है। माक्सवाद को ग़लत ढंग से कैसे लागू किया जा सकता है, उपर्युक्त उद्धरण इसका प्रमाण है। इसी दृष्टिकोण का अतिरंजित रूप शिवदानसिंह चौहान के उस लेख में मिलता है जिसकी चर्चा पहले अध्याय में हो चुकी है। चौहान ने छायावादी और शेष राष्ट्रीय साहित्य को एक साथ प्रतिक्रियावादी बताकर साम्यवादी यथार्थवाद के आधार पर साहित्य रचने की माँग की थी। छायावाद के लिए लिखा था : “इस छायावाद की धारा ने हिन्दी के साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया, उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने पहुँचाया हो।” यह दृष्टिकोण हमारी जातीय संस्कृति के विकास के लिये घातक था।

गैर-माक्सवादी साहित्य के जनवादी और कलात्मक मूल्यों को न पहचानना और उनकी निन्दा करना एक भूल थी। जैसे कुछ लेखक अपने समय के साहित्यकारों—रामचन्द्र शुक्ल, निराला, प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा आदि—का मूल्य न पहचान रहे थे, वैसे ही पिछले साहित्य में वे तुलसी, सूर आदि (वाल्मीकि और कालिदास की तो चर्चा ही क्या) के महत्व के प्रति भी अचेत थे। यही नहीं, उन्हें सामन्तवाद का चाकर कह कर वे साधारण हिन्दी पाठकों की जातीय भावना को ठुकराते भी थे। आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त का मत रहा है, “हम देखेंगे कि वाल्मीकि, कालीदास और तुलसी ने रघुकुल की प्रशस्तियाँ गाईं और राज्यसत्ता को भारी सहारा दिया।” रांगेय राघव अभी तक तुलसीदास को कट्टर ब्राह्मणवाद का समर्थक कह कर कोसते रहे हैं।

पुराने इतिहास और संस्कृति को भौड़े और गलत ढँग से पेश करने में राहुल जी सबसे आगे रहे हैं। मार्क्सवाद के नाम पर वह घटिया पूँजीवादी ढँग से नारी के नग्न रूप और यौन सम्बन्धों का वर्णन करते रहे हैं। वैदिक ऋषियों के तो नाम से ही उन्हें चिढ़ रही है; हाँ, बौद्ध दर्शन में वैज्ञानिक समाजवाद के कुछ मूल्यवान तत्व उन्हें अवश्य मिले। हिन्दीभाषी क्षेत्र में वह हिन्दी को जातीय भाषा न मानकर तेरह जातियों और उनके जनपदों के अलगाव का राग अलापते रहे। सन् ४७ में और उसके बाद इस्लाम के राष्ट्रीयकरण का नारा देकर और उर्दू को अरब जेहादियों का कीर्तिस्तम्भ कह कर उन्होंने अपनी घोर वैज्ञानिक समाजवादिता का परिचय दिया। भारतीय संस्कृति में गोमांस-भक्षण का तथ्य उद्घाटित करके उन्होंने एक अलग ही सांस्कृतिक आन्दोलन खड़ा कर दिया। स्पष्ट है कि इन सब कार्यों से प्रगतिशील आन्दोलन को भारी क्षति पहुँची।

यदि समय पर यशपाल और राहुल जी की आलोचना की जाती तो प्रगतिशील साहित्य कमजोर होने के बदले और दृढ़ होता। इसी प्रकार पन्त जी ने जब कलात्मक सौन्दर्य से हीन, विषयवस्तु में लचर, कविताएँ लिखीं, तो अनेक प्रगतिशील आलोचक उनका उचित मूल्यांकन न करके पन्त जी की बिरुदावली गाते रहे।

इस तरह हमारे आन्दोलन में दो तरह की भूलें थीं—एक तो मैरिक्स-वादी लेखकों का मूल्य न आँकना, दूसरी प्रगतिशील साहित्य के अन्दर फैलने वाले प्रतिक्रियावादी रुझानों का विरोध न करना ।

प्रगतिशील लेखक-संघ को अनेक सामाजिक कारणों से भी क्षति सहनी पड़ी है । दूसरे महायुद्ध के समय बहुत से लेखक प्रगतिशील साहित्य की धारा से अलग होने लगे थे । नरेन्द्र का ज्योतिष प्रेम और पन्त जी का अरविन्द-वाद उन्हीं दिनों का है । कांग्रेसी नेताओं ने जेल से बाहर आने के बाद अपनी कम्युनिस्ट-विरोधी मुहीम छेड़ दी । इसके फलस्वरूप वे लेखक भी जो युद्धकाल में मार्क्सवादी लेखकों से सहयोग करते रहे थे, उनसे अलग हो गये । दिनकर और नवीन जी ऐसे ही लेखकों में हैं । कांग्रेस-लीग एकता के आन्दोलन से लेखकों में एकता के बदले विघटन बढ़ा । साम्राज्यवादी शासन के प्रति उपेक्षा के भाव और फाशिस्त-विरोधी संग्राम (जन युद्ध) पर एकाङ्गी जोर देने का भी यही परिणाम हुआ ।

प्रगतिशील लेखक-संघ की एक पुरानी कमी संगठन की शिथिलता थी । उदाहरण के लिये सन् ४३ से लेकर सन् ४७ तक अखिल भारतीय लेखक संघ की कार्यकारिणी की कोई बैठक न हुई थी । सन् ४७ में भारत-विभाजन के बाद प्रगतिशील लेखक-संघ के मन्त्री सजाद ज़हीर पाकिस्तान चले गये; उस के बाद संघ बिल्कुल विशृङ्खल हो गया । जो लोग इस परिस्थिति को नहीं जानते, वे इस भुलावे में आ जाते हैं कि सन् ४८ तक प्रगतिशील लेखक-संघ एक दृढ़ संगठन था और वह नयी सङ्कीर्णतावादी नीति के कारण छिन्न-भिन्न हो गया । सचार्इ इससे बिल्कुल उल्टी है । सन् ४६ में अनेक वर्षों के बाद उत्तर प्रदेश में हिन्दी-उर्दू लेखकों का मिला-जुला सम्मेलन हुआ । “कांग्रेस-लीग एकता” के दिनों इस स्थापना का प्रचार था कि हिन्दुओं की भाषा हिन्दी है, मुसलमानों की भाषा उर्दू है । इसलिए हैदराबाद और लखनऊ में उर्दू के प्रगतिशील लेखकों के सम्मेलन और इलाहाबाद में हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों के अलग-अलग सम्मेलन हो चुके थे । इस स्थिति के बाद सन् ४६ में पहली बार हिन्दी-उर्दू के लेखक एक मंच पर एकत्र हुए थे । सन् ४६ में ही—सन् ४३ के बाद पहली बार—बम्बई में बंगाली,

तेलगू, मराठी, हिन्दी, उर्दू आदि के कुछ प्रगतिशील लेखक एकत्र हुए थे और उन्होंने अखिल भारतीय संगठन को फिर चलाने का प्रयत्न किया था। उन दिनों अधिकांश प्रगतिशील लेखक कांग्रेसी दमन के शिकार थे। बंबई में सम्मेलन पर बैन लगा दिया गया था। दमन के कारण अनेक प्रदेशों से प्रगतिशील लेखक आ न सके थे। इसलिये परिस्थितियों को देखते हुए सन् ४६ में प्रगतिशील लेखकों को संगठित करने का जो प्रयत्न किया गया, वह नगण्य न था।

सोवियत लेखिका ए० पायेव्स्काया ने “सोवियत लिटरेचर” (नं० २, १९५३) में इस सम्मेलन की चर्चा करते हुए लिखा था, “भारत का विभाजन होने पर हिन्दुस्तान के प्रगतिशील लेखक कठोर पुलिस दमन का मुकाबला करते हुए ऐंग्लो-अमरीकी साम्राज्यवाद और घरेलू प्रतिक्रियावाद के खिलाफ वीरता से और जम कर संघर्ष करते रहे हैं और जनतन्त्र और स्वाधीनता के लिये भारतीय जनता के अधिकारों का समर्थन करते रहे हैं। १९४६ की गर्मियों में प्र० ले० संघ के घोषणापत्र ने कहा था, ‘साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में साहित्य निष्क्रिय नहीं है। पूर्ण स्वाधीनता और जनतन्त्र के लिए जनता के संघर्ष में प्रेरणा देने, नेतृत्व करने और पथप्रदर्शन करने की अपनी भूमिका उसे कारगर तरह से पूरी करनी चाहिए, उसे जनता की आकांक्षाएँ प्रकट करनी चाहिए जो विदेशी साम्राज्यवाद ही से पीड़ित नहीं है बल्कि भारतीय पूँजीवाद, सामन्तों और जमींदारों से भी पीड़ित है। भारतीय साहित्य के लिये देश के जन साधारण से अलग कोई भविष्य नहीं है जो मजदूर वर्ग के नेतृत्व में आज स्वाधीन मानव जीवन के लिए और शोषण के सभी रूप खत्म करने के लिये लड़ रहे हैं। हमारे लेखक जितना ही इस आन्दोलन के नजदीक आयेंगे, उतना ही उनके साहित्य की विषय-वस्तु और रूप दोनों ही समृद्ध होंगे।”

यह घोषणापत्र हमारे अनेक मित्रों को बहुत ही सङ्कीर्णतावादी लगा, सन् ४६ में नहीं, सन् ५० और सन् ५१ में। जिस बात से ये मित्र असन्तुष्ट थे, वह थी जनता के संघर्ष की, लेखक और जनता के निकट सम्बन्ध की, जन-जीवन को साहित्य में प्रतिबिम्बित करने की। यद्यपि

यहाँ एकदम कोई ऐसी नई बात न कही गई थी, जिसे प्रेमचन्द तेरह साल पहले न कह गये हों, फिर भी इन उदार मित्रों ने संकीर्णतावाद के विरुद्ध संघर्ष करने में घड़ों स्याही उड़ेल दी और रिमों कागज रंग डाले। इस बीच मार्क्सवाद पर, प्रगतिशील साहित्य पर, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा पर बराबर आक्रमण होते रहे; इसका कुछ भी असर इन मित्रों के उदार हृदय पर न पड़ा। पंतजी ने 'उत्तरा' में, नवीनजी ने 'क्वासि' की भूमिका में, धर्मवीर भारती ने 'आलोचना' में मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य पर बराबर आक्रमण किये लेकिन इनका उत्तर देने के लिये संकीर्णता-विरोधी मित्रों को जग भी फुसंत न मिली।

जुलाई सन् ५० में दिल्ली में एक प्रादेशिक सम्मेलन हुआ था। इसमें 'हंस' के अनुसार 'सौ से ऊपर प्रतिनिधियों ने भाग लिया था।' यदि आप यह स्मरण करें कि जिस भवन में यह सम्मेलन हुआ था, उसे संगीनधारी पुलिस घेरे हुए थी तो आप 'सौ से ऊपर प्रतिनिधियों' का महत्व अच्छी तरह समझ सकेंगे। यह केवल दिल्ली, पंजाब और राजस्थान के लेखकों का सम्मेलन था। ८ अक्टूबर १९५० को आगरा प्रगतिशील लेखकसंघ ने प्रेमचन्द दिवस मनाया गया। इसकी एक रिपोर्ट 'हंस' में छपी थी जिसमें कहा गया था, 'प्रगतिशील लेखक संघ के तत्वावधान में यह पहला ही सांस्कृतिक आयोजन था। लेकिन जनता ने जिस प्रकार हमारी उत्साह-वृद्धि की, उससे हमें प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन की लोकप्रियता का अन्दाजा हुआ।'।

कुछ मित्रों ने कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर चलने वाले संघर्ष में एक विशेष उद्देश्य के लिये सन् ५१ में संकीर्णतावाद के विरुद्ध अपना आन्दोलन चलाया। अमृतराय ने लिखा कि "प्रगतिशील लेखक संघ के भीतर जनवाद का नाश हो गया।" वह सुन्दर कथाकार हैं, इसलिये उन्होंने बहुत ही कलात्मक ढंग से लिखा, "लोग डरे सहमे मुँह पर ताला डाले घूमते थे कि कहीं धोखे से ऐसी कोई बात न निकल जाय कि मैं कायर या सुधारवादी या क्रान्ति का दुश्मन न करार दिया जाऊँ।" और विचित्र बात यह हुई कि "सब कम्युनिस्ट लेखक जो कुछ भी लिखें उसकी एक कटिंग श्री रामविलास

शर्मा के पास भेजें जिसका और कोई मकसद समझ में नहीं आता सिवाय इसके कि रामविलास जी को यह डर था कि हम सभी सुधारवाद के रंग में बुरी तरह डूबे हुए हैं, इसलिये हम जो कुछ लिखते हैं, उस पर कड़ी निगाह रखना जरूरी है।” देखिये, इसका कितना भयंकर परिणाम हुआ : “यकीनी तौर पर यह काम करने का नौकरशाही ढंग था और उसका नतीजा वैसा ही बुरा हुआ—लेखकों ने सहानुभूति-शून्य आलोचना और सुधारवाद के जुर्म में अनुशासन की कार्रवाई के डर से लिखना ही बन्द कर दिया।” मेरा हृदय सहानुभूतिशून्य रहा होगा—मैं स्वीकार करता हूँ। निगाह भी कोमल नहीं हैं—मानता हूँ। लेकिन प्रेम में जैसे कुछ महिलाओं को कठोरता ही पसंद होती है, उसी तरह मित्रवर अमृतराय को भी इस सहानुभूतिशून्य हृदय से ही प्रेम था। १४ सितम्बर सन् ५० को उन्होंने मुझे लिखा था, “दरअसल इस बात का बड़ा अफसोस है कि हंस के इस अङ्क में तुम्हारी कलम से कोई चीज़ नहीं जा रही। यह अङ्क अगले हफ्ते निकल जायगा और मुझे विश्वास है कि तुम उसे पसन्द करोगे। लेकिन कुछ लेख अनुवाद करके देने पड़े हैं क्योंकि मौलिक लेख इतने कम थे। संपादकीय नोटों के बारे में सुभावों के लिये धन्यवाद।” १७ नवम्बर सन् ५० को उन्होंने अपनी बेकरारी का जिक्र करते हुए लिखा, “तुम्हें अक्टूबर और नवंबर के अङ्क मिल चुके हैं। मेहरबानी करके उन पर अपनी राय और सुभाव भेज दो। मैं इन तमाम दिनों तुम्हारे खत का इन्तज़ार करता रहा।” एक महीने बाद इन्हीं अमृतराय ने ‘हंस’ में संकीर्णतावाद के विरुद्ध अपना उदार आन्दोलन छेड़ दिया जिसका लक्ष्य इन पंक्तियों का लेखक, उनका यह तुच्छ सेवक, था।

अमृतराय के साथ शिवदानसिंह चौहान, उनके छोटे भाई साहब राम-गोपाल सिंह चौहान, द्रविड़ रक्त के धनी रांगेय राघव आदि ने कहीं लेख लिखकर, कहीं पुस्तिकाएँ, कहीं बड़े पोथे लिखकर संकीर्णतावाद का मूलोच्छेद करने में यशस्वी कार्य किया। संकीर्णतावाद का नाश हो जाने पर इलाहाबाद में उत्तरप्रदेश के प्रगतिशील लेखकों का सम्मेलन हुआ। इसमें एक घोषणा पत्र स्वीकृत हुआ। इन पंक्तियों के लेखक ने उसका मसौदा तैयार किया था। इस घोषणापत्र में सांस्कृतिक विरासत पर जोर दिया गया, प्रगति-

शील लेखकों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उल्लेख किया गया, नस्लवाद, अश्लीलता, निराशावाद के रुझानों का विरोध किया गया, साहित्य और जनता के सम्बन्ध के बारे में कहा गया कि प्रगतिशील लेखकों का साहित्य सुखी जीवन के लिये संघर्ष में जनता को प्रेरणा देता है। सन् ५३ में जब दिल्ली में अखिल भारतीय प्र०ले० सम्मेलन हुआ तो उसमें वही घोषणापत्र—कुछ संक्षिप्त रूप में लेकिन उन्हीं मूलसूत्रों को लेते हुए—फिर स्वीकृत किया गया।

यह कहानी सिर्फ इसलिये लिखी है कि जिज्ञासु पाठकों को इस प्रश्न का उत्तर मिल जाय कि प्रगतिशील लेखक संघ आज क्यों ठप हो गया है। संकीर्णतावाद से संघर्ष करने वालों के पास अपना कोई कार्यक्रम न था। जब सिद्धान्तहीन संघर्ष चलाया जाता है तो वह गुटबंदी का रूप लेकर अवश्य ही स्वस्थ साहित्यिक आन्दोलन को खत्म कर देता है। मार्च सन् ५३ में ही कृशन चन्दर प्रगतिशील लेखक संघ के नये मंत्री चुने गये। पहले संकीर्णतावाद के खिलाफ संघर्ष का कार्यक्रम लोगों के सामने था। वह कार्यक्रम भी न रहा। इसलिये कुछ लोगों ने कहा कि प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन की अब जरूरत ही नहीं है। कुछ नेताओं का विचार है कि जीवन ने ही प्रगतिशील लेखक-संघ की निरर्थकता सिद्ध कर दी है। अब साहित्य अकदमी को तमाम भारतीय लेखकों का संयुक्त मोर्चा बनना चाहिये। प्रगतिशील लेखक संघ के ठप होने का कारण अनेक बन्धुओं की यह धारणा है कि प्रगतिशील साहित्य की कोई जरूरत नहीं है, प्रगतिशील लेखकों के संगठन की कोई आवश्यकता नहीं है, लेखकों का संगठन करने में विचारधारा का कोई ध्यान न रखना चाहिये।

आज विश्व पर महायुद्ध के बादल वैसे ही मँड़रा रहे हैं जैसे सन् ३६-३८ में मँड़रा रहे थे। शान्ति की रक्षा के लिये लेखकों का संगठित आंदोलन बहुत कुछ कर सकता है। मिश्र ने स्वेज का राष्ट्रीयकरण किया, इससे भारत में ब्रिटिश पूँजी के राष्ट्रीयकरण की मांग फिर उठी है। ब्रिटेन ने मिश्र पर हमला किया; भारत में कॉमनवेल्थ से नाता तोड़ने के लिये फिर जोरदार माँग उठी है। क्या भारतीय लेखक इन समस्याओं के प्रति उदासीन रहेंगे ?

देश में सामन्ती-साम्राज्यवादी अवशेष खत्म करके समाजवादी व्यवस्था रचने का प्रश्न सामने है। क्या इस नवनिर्माण के प्रश्न पर लेखक तटस्थ रहेंगे? साहित्य में अश्लीलता, निराशावाद, तथाकथित प्रयोगवाद (यानी घटिया और कुधड़ साहित्य, अपनी परम्परा से विलग और अँग्रेजी के निम्न साहित्य की छिछली नकल), साम्प्रदायिकता आदि की प्रवृत्तियाँ घर्तमान हैं। साहित्य के सर्वाङ्गीण विकास की समस्या हमारे सामने है—ऐसा साहित्य जो हमारे राष्ट्रीय गौरव के अनुरूप हो और जिसे हम वास्तव में जनता का साहित्य कह सकें। क्या इन सब बातों से एक शक्तिशाली साहित्यिक आन्दोलन की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती?

मुझे विश्वास है कि वर्तमान निष्क्रियता और उदासीनता अस्थायी है। यह निष्क्रियता साहित्य रचने में इतनी नहीं है जितनी एक संगठित साहित्यिक आन्दोलन चलाने में, लेखकों को संघबद्ध करने में। इस तरह के साहित्यिक आन्दोलन की ऐतिहासिक आवश्यकता है, इसलिए हिन्दी-भाषी प्रदेश के जागरूक लेखक इस दिशा में अवश्य प्रयत्न करेंगे और आज का आन्दोलन-सम्बन्धी गतिरोध दूर करेंगे।

जातीय भाषा के रूप में हिन्दी का प्रसार

जातीय भाषा बनने से पहले हिन्दी या खड़ी बोली एक जनपद की भाषा थी। ब्रज, अवध, बुंदेलखंड आदि जनपदों में ब्रज, अवधी, बुंदेलखंडी आदि भाषाएँ बोली जाती थीं। इन जनपदों के रहने वाले छोटी-बड़ी रियासतों में बैठे हुए थे। वे सब किसी जाति में संगठित न हुए थे और इसीलिये एक जातीय भाषा के रूप में उनके पास आपसी व्यवहार की कोई भाषा नहीं थी। कुछ पढ़े-लिखे लोग संस्कृत से काम चलाते थे लेकिन उसे आम जनता न तो समझती थी, न बोलती थी।

तब के समाज की दो विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि समाज चार वर्णों में बँटा हुआ था जिनके अन्तर्गत सैकड़ों जात-बिरादरियाँ थीं। दूसरी यह कि गाँव बहुत कुछ खुदमुखतार थे; ऊपर से आँधी तूफान निकलते रहें, ये छोटे-छोटे पंचायती राज अपनी जगह बदस्तूर कायम रहते थे।

१३ वीं १४ वीं सदी में सामन्ती समाज का यह ढाँचा ढीला पड़ने लगा था, वर्ण-व्यवस्था शिथिल हो रही थी और लोग अपने खानदानी पेशे छोड़ कर नये पेशे अपनाने लगे थे। तुर्कों के हमलों से यह ढाँचा और कमजोर पड़ा हालाँकि उसे तोड़ने वाली ताकतें उसके भीतर ही पैदा हो रही थीं। तिलक जो हिन्दी और फारसी दोनों जानता था और अबुलहसन और महमूद गजनवी की सेवा में रहा था, एक नाई का लड़का था। रहुप नाम का एक बनिया परिहार राजा से क़िला छीनकर इल्तमश से लड़ा था (केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, खंड, ३, पृ० ५३)। गुजरात में तगी चमार ने दिल्ली के बादशाह के खिलाफ विद्रोह की अगुआई की। हेमू, जिसने अकबर का मुकाबला किया था, बनिया था। अकबर का चित्रकार दसवन्त कहार था। रामानन्द के शिष्यों में कबीर जुलाहा, रैदास चमार और सेना नाई थे।

कबीर के उत्तराधिकारी धरमदास बनिया थे । दादू के लिये कहा जाता है कि वह मोची थे । उनके शिष्य सुन्दरदास बनिया थे और मलूकदास खत्री थे । इस तरह की और भी मिसालें दी जा सकती हैं । इससे नतीजा यही निकलता है कि संस्कृति पर अब ब्राह्मण-पुरोहितों का इजारा टूट रहा था; राज्य और धरती पर क्षत्रियों का अधिकार ढीला पड़ रहा था ।

तुर्क बादशाहों ने बाजार, तौलने के बाँट, सिक्कों आदि के बारे में जो सुधार किये, उससे सौदागरों को फायदा पहुँचा । इस जमाने में नयी-नयी मंडियाँ और नये-नये शहर आबाद हुए । फीरोज़ तुगलक के लिये कहा जाता है कि उसने फीरोज़ाबाद, फतहाबाद, फीरोज़पुर, बदायूँ, जौनपुर आदि शहर बसाये । शेरशाह के ज़माने में पटना शहर फिर व्यापार का केन्द्र बना । उसके समय में जो सड़कें और नहरें तैयार हुईं, उनसे व्यापार बढ़ा । शेरशाह ने सरायें बनवाई, धार्मिक उदारता की नीति बरती, और खास बात यह कि राज्य और किसान के बीच सीधा सम्बन्ध कायम किया । पहले गाँव का मुखिया मालगुजारी तै करता था, उसका वह हक छिन गया । इस तरह एक तरफ तो सौदागरी और व्यापार के केन्द्रों के तौर पर शहर बढ़ती पर थे, दूसरी तरफ गाँवों की खुद मुख्तारी पर पाबंदी लगी । अकबर ने बारूद का महत्व समझा । राज्य में शान्ति कायम रखने केलिये उसने खासतौर से बारूद का भरोसा किया । सामन्ती युग के तीर-कमान और तलवार पुरानी चीज़ें बनते जा रहे थे । अकबर ने सारे राज्य में एक सी मुद्रा-व्यवस्था चलाकर व्यापार की बढ़ती में मदद की । तनखाह के लिये जागीरें दीं लेकिन माल-गुजारी वगैरह तै करने का हक जागीरदारों को नहीं दिया । कभी-कभी उन्हें जागीर से दूर भी तैनात कर दिया जाता था । इस तरह सामन्तों और जागीरदारों की ताकत कम हुई । धार्मिक मामलों में अकबर ने उदार नीति बरती ।

मुग़ल बादशाहों को खुद भी व्यापार से दिलचस्पी थी । अकबर खुद व्यापार करता था । लखनऊ युनिवर्सिटी के डाक्टर पंत के अनुसार गुजरात, आगरा और कश्मीर के बढ़िया उद्योगों का इजारा उसके हाथ में था । शाहजहाँ ने नील का व्यापार अपने हाथ में रखा था और मनोहर दास को राज्य से उधार रकम देकर व्यापार करने की आज्ञा दी थी और मुनाफे में

हिस्सा लेता था। नूरजहाँ भी नील और जरी के वस्त्रों के व्यापार से दिलचस्पी रखती थी। बादशाहों के भाई-भतीजे सौदागरी से धन कमाते थे। मुगल राज्यसत्ता की आमदनी का जरिया सिर्फ जमीन न थी, बल्कि व्यापार भी था।

व्यापार की उन्नति से पुराने जनपदों का अलगाव दूर हुआ। पटना, बनारस, इलाहाबाद, आगरा और दिल्ली ऐसे केन्द्र बन गये जिनके चारों तरफ एक कौमी बाजार कायम हुआ। यात्री मानरीके के अनुसार सन् १६-४० में आगरे की आबादी छः लाख थी। मार्क्स ने भारतीय इतिहास पर अपनी पुस्तक में लिखा है कि अकबर के जमाने में दिल्ली दुनिया का सबसे बड़ा शहर था। जो नया बाजार कायम हुआ, उसके सबसे बड़े केन्द्र आगरा और दिल्ली ही थे।

ब्रिटेन में हिंदुस्तानी कपड़े की माँग बढ़ने से यहाँ का रोज़गार और चमका। १७वीं सदी के पहले हिस्से में आगरे से विलायत कपड़ा भेजा जाता था और यह कपड़ा अवध से बन कर आता था। इस तरह ब्रज और अवध एक बाजार में संगठित हुए। खुद अवध में दरियाबाद और खैराबाद अपने उद्योगों के लिये मशहूर हुए। इसी तरह पटना, बनारस, लखनऊ वगैरह ने आसपास के देहातों को अपनी तरफ समेटा और उनका पुराना अलगाव बहुत कुछ दूर किया। फ्रान्सीसी यात्री बर्नियर ने जिन मुगल कारखानों का जिक्र किया है, मुमकिन है कि वह पूँजीवादी पैदावार की पहली मजिल रहे हों। बहरहाल जुलाहों को सौदागर पेशगी रुपया देते थे और उनसे तैयार माल लेते थे। पेशगी लेने पर जुलाहा अपने माल पर अधिकार खो देता था। पेशगी के जरिये सौदागर उसकी श्रम-शक्ति खरीद लेता था। यह पैदावार का पूँजीवादी तरीका था। सन् १८४४ में एंगेल्स ने अपनी पुस्तक “इङ्गलैंड के मजदूर वर्ग की दशा” में लिखा था, “मशीनें चालू होने से पहले कच्चे माल को कातने और बुनने का काम मजदूर के घर पर होता था।” सत्रहवीं सदी में यह सिलसिला यहाँ भी कायम था। लेनिन ने मिखाइलोव्स्की को जवाब देते हुए बतलाया था कि सत्रहवीं सदी में आपसी विनिमय की बढ़ती से, बिकाऊ माल के चलन के धीरे धीरे तेज होने से, और छोटे-छोटे बाजारों के एक

बड़े बाजार में सिमटने से रूसी जाति का निर्माण हुआ । १७वीं सदी में इसी तरह हमारे यहाँ भी हिन्दुस्तानी जाति का निर्माण शुरू हुआ था ।

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में हम जनपदों का एक दूसरे के नजदीक आना और उनका अलगाव दूर होना देखते हैं । रामचरितमानस अवधी में लिखा जाता है, लेकिन ब्रज, भोजपुरी आदि के इलाकों में भी वह अपनाया जाता है । यही नहीं, गोस्वामी जी ब्रज और अवधी दोनों में कविता करते हैं और उनकी भाषा में एकसे अधिक बोलियों के शब्द और प्रयोग देखे जा सकते हैं । उधर ब्रजभाषा को कविताएं—मीरा, सूर, रसखान और रहीम की रचनाएँ—दूर देहात तक पहुँच रही थीं । खड़ी बोली में भी खुसरो, कबीर आदि रचनाएँ करने लगे थे । रहीम ने किसी को खड़ीबोली में ही गाते सुन कर लिखा था—भुकभुक मतवाला गावता रेखता था ।

दक्खिन में खड़ीबोली का अलग विकास हुआ, गद्य और पद्य दोनों में यह प्रदेश मुख्यतः तेलगूभाषी था और खड़ीबोली वहाँ कम तादाद के लोगों की भाषा थी । उत्तर की भाषा पर उसका असर कुछ देर से पड़ा ।

शहरों में व्यापार और विनिमय के लिये किस भाषा का उपयोग होता था ? यह भाषा खड़ीबोली या हिन्दी थी । इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि देश-विदेश के जो लोग कामकाज के लिए दिल्ली या आगरा आते थे, वे यही भाषा सीखते थे । ग्रियर्सन ने लिखा है कि “उन दिनों के कुछ अंग्रेज सौदागर निःसंदेह घड़ल्ले से हिन्दुस्तानी बोल सकते थे……” (लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, खंड १, पृ० २) । और इतिहासकार सरदेसाई ने लिखा है कि इतालवी यात्री मनुच्ची ने शिवाजी से, बिना किसी दुभाषिए की मदद के, उर्दू में बातचीत की । फारसीके दबाव की वजह से यह भाषा पहले पहल दक्खिन में फूली-फली ।

हिन्दुस्तान में जो तुर्क, पठान, ईरानी, उजबक आदि जातियों के लोग आये, वे यहाँ किसी नयी भाषा को जन्म न दे सके । उनके बहुत से शब्द यहाँ वालों ने ले लिये, उनके प्रत्यय लगाकर कुछ नये शब्द भी गढ़े—जैसे पागलखाना, अफीमची (और पिछले दोनों जङ्गबाज़) वगैरह । लेकिन हमारी भाषा की व्याकरण-व्यवस्था, उसके मूल

शब्द भण्डार में कोई भारी तब्दीली नहीं हुई। तुकों, पठानों, ईरानियों, उज़्बकों आदि के आने से पहले भी हिन्दी भाषा थी, उनके हिन्दुस्तानी बन जाने के बाद भी रही। इसलिये बादशाहों के लश्करी में नयी ज़बानें गढ़ने की कल्पना भ्रामक है।

बाहर से आने वाले लोगों के शब्दों से हमारी भाषा और समृद्ध हुई लेकिन उसने अपने जातीय रूप की रक्षा की। भाषा के बारे में शेरशाह और अकबर की नीति अंग्रेजों की तरह अनुदार नहीं थी। शेरशाह ने तो फारसी के साथ हिन्दी में कामकाज करने की हिदायत दे रखी थी।

ब्रजभाषा, अवधी, खड़ीबोली आदि सभी ने हिन्दुस्तानी जातिके निर्माण में मदद दी। हमारी जाति का चरित्र संघर्षों द्वारा और पक्का हुआ। इन संघर्षों के दो पहलू थे, एक तो जातीय, दूसरा जनवादी। यानी एक तरफ़ तो यहाँ के लोग विदेशी आतताइयों के खिलाफ़ लड़े, दूसरी तरफ़ वे सामन्ती उत्पीड़न के खिलाफ़, वर्ण-व्यवस्था और पुरोहितों-सामन्तों के विशेष अधिकारों के खिलाफ़ भी लड़े। भक्ति-आन्दोलन में ये दोनों पहलू मौजूद हैं। जुलाहे और किसान इस आन्दोलन को शक्ति देने वाले हैं। सौदागर उसके सहायक हैं, हिन्दू और मुसलमान, सूफ़ी और संत दोनों उसमें शामिल हैं। भक्ति-आन्दोलन एक जातीय और जनवादी आन्दोलन है। क्या उस समय हिंदुओं और मुसलमानों की दो संस्कृतियाँ थीं? कुछ धार्मिक भेदभाव जरूर था लेकिन दो संस्कृतियाँ नहीं थीं। जायसी, रसखान, रहीम, आलम, शेख, पजनेस वगैरह की वही संस्कृति थी जो सूर, मीरा, तुलसी, नन्ददास, दादू, रैदास आदि की थी। यह संस्कृति जातीय और जनवादी थी, इसीलिये कबीर को हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनाने के लिये तैयार थे। दरबारों की संस्कृति अलग थी। मुग़ल राज्यसत्ता इस जनवादी संस्कृति को आश्रय देने वाली न थी।

हिन्दुस्तान के लोग सामन्ती ढांचा खत्म करके अपनी जातीय राज्यसत्ता कायम कर लेते लेकिन तभी अंग्रेजों की दखलंदाजी से उनकी ऐतिहासिक प्रगति में बाधा पड़ी।

१६ वीं सदी में चर्खे और हल का समन्वय प्रोद्भूत हुए अंग्रेजों ने हिंद

प्रदेश को अपने अधिकार में किया। हिन्दुस्तान में ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिनसे फायदा उठाकर उन्होंने भाषा और संस्कृति के मामलों में दखल देना और यहाँ के लोगों में फूट डालना शुरू किया।

महाराष्ट्र, आन्ध्र, बंगाल, पंजाब आदि में वे परिस्थितियाँ न थीं जो हिंदीभाषी इलाके में थीं। महाराष्ट्र में शिवाजी एक जातीय रियासत कायम कर चुके थे। वैसी कोई कोशिश यहाँ न हुई थी। शिक्षा का कोई मिला-जुला जातीय क्रम निश्चित न था, मुल्ला-पंडितों के हाथ में अब भी शिक्षा की जिम्मेदारी थी। इस धार्मिक शिक्षा की वजह से दो लिपियों का प्रयोग होता था और भाषा की एकता के हिसाब से सब जगह एक ही लिपि का चलन न था। मुगल साम्राज्य के उखड़ने के बाद नवाबों के अर्द्ध ज़्यादातर हमारे इलाके में रहे। बंगाल, महाराष्ट्र, आन्ध्र, वगैरह इनसे अपेक्षाकृत मुक्त रहे। हैदराबाद में उर्दू के असर से तेलगू भाषा में कुछ तब्दीली हुई, लेकिन उस हद तक नहीं कि तेलगू में हिन्दी-उर्दू की तरह दो धाराएँ चल पड़ें।

अंग्रेजों ने जिस अलगाव से फायदा उठाया और उसे गहरा बनाया, वह यहाँ की धार्मिक शिक्षा और सामन्ती पिछड़ेपन की वजह से था। बहुत से राज-दरबारों में ब्रज भाषा के आगे नयी जातीय भाषा हिन्दी की पूछ न थी; नवाबों के यहाँ खड़ी बोली के लोकप्रिय रूप और जनवादी कविता की क़द न थी। इस तरह खड़ी बोली में दो धाराएँ चल निकलीं—एक तो लोकप्रिय धारा, दूसरी सामन्तों के आश्रय वाली धारा। कुछ कवियों ने साधारण भाषा के शब्दों के वहिष्कार की नीति अपनाई जिससे उनकी शैली बोलचाल की भाषा से अलग मालूम होने लगी।

अंग्रेजी ने इस भेद को और गहरा किया। गिलक्राइस्ट ने हिन्दुओं और मुसलमानों की अलग भाषाओं के सिद्धान्त की रचना की। रिजले ने धर्म के आधार पर दो क़ौमों गद्दी और ग्रियर्सन ने भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में फूट के उसूल को धार्मिक रूप दिया। सर सैयद ने लश्करी में नयी भाषा बनने की तजवीज़ पेश की। इक़बाल ने मुस्लिम क़ौम और मुस्लिम संस्कृति का नारा लगाया। ये सब साम्राज्यवादी विषष्टि के फल थे।

अंग्रेजों के राज में गाँवों की पुरानी व्यवस्था तो टूटी लेकिन उन्होंने सामन्तवाद और सामन्ती संस्कृति को मजबूत भी किया। इसी जर्जर सामन्ती संस्कृति पर उन्होंने अपनी तहज़ीब का ताज रखा। हिन्दीभाषी इलाके को उन्होंने कई सूबों में बाँटा, यहाँ ताल्लुकदारों और नवाबों को पाला पोसा, और भाषा के मामले में जातीय उत्पीड़न का एक नया तरीका निकाला। कभी हिन्दुओं को दबाया, मुसलमानों को उभारा, कभी हिन्दुओं को उभारा और मुसलमानों को दबाया। कचहरी-अदालत और पुलिस में वह ज़बान चलाई कि किसान कभी समझ ही न सके और उसे ठगने और लूटने में उन्हें आसानी हो। इस तरह एक तरफ उर्दू की धारा बही, दूसरी तरफ हिन्दी की। फिर भी भाषा के बुनियादी शब्दों और मूल व्याकरण-व्यवस्था के बिना कोई भी धारा आगे न बढ़ सकती थी।

हिन्दी-उर्दू का भेद १६ वीं सदी से पहले नगण्य है। १६ वीं सदी में अंग्रेज़ी राज कायम होता है और तभी यह भेद गहरा होता है। इसलिये उस भेद के लिये सबसे ज़्यादा अंग्रेज ही जिम्मेदार हैं। अगर सूफियों और सन्तों की परंपरा जिम्मेदार होती तो इस तरह की दो धाराएँ बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात वगैरह में भी बहती दिखाई देतीं। वहाँ नहीं दिखाई देतीं, यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी-उर्दू का भेद अस्थायी है जो जनता के स्वाधीनता आन्दोलन की बढ़ती के साथ कम होते होते मिट जायगा। आखिर अभी सौ साल भी तो इस खाई को नहीं हुए।

हिंदीभाषी इलाके में सामन्ती अवशेष कायम रख कर, हिंदी-उर्दू के रावाल से साम्प्रदायिकता उभार कर, एक ही भाषा की दो धाराएँ बहाकर और दोनों पर अंग्रेज़ी लादकर, आम जनता को अशिक्षित रखकर अंग्रेजों ने हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक विकास को भारी नुकसान पहुँचाया है।

फिर भी हर जगह उनकी मनचीती नहीं हुई। हिन्दुस्तानी जनता ने आसानी से उनका जुआँ स्वीकार नहीं किया। १८५७ में दिल्ली, मेरठ, कानपुर, भोली आदि शहरों के, अवध, भोजपुरी, बुन्देलखण्ड आदि जनपदों के वीरों ने अंग्रेजों के दाँत खट्टे कर दिये। अगर अंग्रेजों को हिन्दुस्तानियों से ही मदद न मिलती तो देश का इतिहास ही दूसरा होता। हमारे साहित्य-

कारों ने जनवादी संस्कृति की परंपरा को निबाहा। हिन्दी-उर्दू के लेखकों के सहयोग को अंग्रेज खत्म नहीं कर पाए। भारतेन्दु, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, जो आधुनिक हिन्दी के निर्माता हैं, उर्दू के भी लेखक थे। प्रेमचन्द ने उस परंपरा को और आगे बढ़ाया।

कांग्रेस और लीग के नेताओं ने क्रान्तिकारी जन-आन्दोलन का तो विरोध किया, लेकिन साम्राज्यवादियों की स्वाधीनता-योजना स्वीकार की। भारतीय जनता से भय खाकर अंग्रेजों ने अपना झंडा और अपनी फौज तो हटा ली लेकिन अपने पूँजीवादी पंजे देश में और भी गड़ा दिए।

अंग्रेजी पूँजी का हित इस बात में है कि बँटवारे के बाद कायम की हुई दोनों रियासतें आपस में लड़ें या उनमें तनातनी रहे जिससे कि लोगों का ध्यान छिपे हुए लुटेरों की तरफ न जाय। इसके लिये उन्होंने दंगे कराये, कश्मीर की लड़ाई कराई और साम्प्रदायिक दलों के जरिये तनातनी कायम रखी।

साम्प्रदायिकता से फायदा उठा कर पाकिस्तान के शासकों ने वहाँ की भाषाओं को दबाया और उन पर उर्दू लादी। हिन्दुस्तान के साम्प्रदायिकों ने कहा कि अब तो उर्दू पाकिस्तान गयी और उसकी यहाँ बात करना भी राष्ट्रद्रोह है। राजर्षि टंडन और महापंडित राहुल ने इस विपरीत प्रचार का नेतृत्व किया। उत्तर भारत के सूबों में हिन्दी ठीक ही राजभाषा घोषित की गई लेकिन उर्दू के व्यवहार और शिक्षा आदि में तरह-तरह के अड़ंगे लगाये गये।

हिंदी के कुछ लेखक इस परिस्थिति को सन्तोषजनक समझते हैं। लेकिन उर्दू को दबाने से हमारी जातीय भाषा के विकास में बाधा पड़ती है, इसलिये इस परिस्थिति को संतोषजनक कैसे कहा जा सकता है? उर्दू में लोकप्रिय साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा मौजूद है। उसमें बोलचाल के मुहावरों का निखरा हुआ रूप ही नहीं है, हमारी भाषा और साहित्य का इतिहास उसके बिना अधूरा रहेगा। इसलिये अपनी जाति के सांस्कृतिक इतिहास के लिये, अपनी जातीय भाषा के विकास के लिये मैं उर्दू के दबाने का विरोध करता हूँ। बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा और प्रेमचन्द की हिंदी में कितने

उर्दू के शब्द शामिल हैं, इसे साहित्य का हर विद्यार्थी जानता है। लेकिन हिन्दी को संस्कृतगर्भित करने वाले सज्जन उस परम्परा को मिटा रहे हैं। इसमें हिन्दी भाषा और साहित्य का ही नुकसान है। बालमुकुन्द गुप्त पर मेरा एक लेख पढ़कर श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने मुझे लिखा है—“प्रेमचन्द और गुप्त जी की परम्परा का Point बहुत बढ़िया सूझ है—सवा सोलह आने सत्य; पर अब तो वह परम्परा नष्ट हो रही है। उर्दू को हिन्दी की एक शैली बिना माने हम लोग अपनी भाषा का अंग-विच्छेद कर देंगे। ‘लकड़तोड़’ हिन्दी कर्णकटु ही बनी रहेगी।”

अगर बालमुकुन्द गुप्त और प्रेमचन्द की परंपरा नष्ट होरही है, तो किसी भी हिंदी लेखक के लिये यह सन्तोष की बात नहीं हो सकती। अपनी भाषा का अङ्ग-विच्छेद करने से वही खुश हो सकते हैं जो भाषा के शत्रु हैं।

फ्रांसीसी नीति के खिलाफ उर्दू के कुछ लेखकों ने विधान को सहायता लेते हुए इलाकाई ज़बान का सवाल उठाया है। हिंदी से अलग उर्दू का कोई अलग इलाका नहीं है हालांकि उर्दू या हिंदी को अपनी एकमात्र साहित्यिक भाषा समझने वाले लोग हैं। इसलिये उर्दू के पढ़ने-पढ़ाने और उसे व्यवहार में लाने में जो भी बाधाएँ आती हैं, उन्हें दूर करने के लिये आवाज़ बुलन्द करना सभी जनवादियों का कर्तव्य है। उसे अलग इलाकाई ज़बान मानना ग़लत है।

हिन्दीभाषा इलाके की जनता के लिये किसानों में शिक्षा का सवाल भाषा की समस्या के साथ जुड़ा है। किसानों को ग्राम शिक्षा किस लिपि में दी जाय ? अगर किसानों को एकजुट करना है, उनकी राजनीतिक चेतना को विकसित करना है, उनके आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन की धुरी बना देना है तो ग्राम शिक्षा के लिये दो लिपियाँ रखना हानिकारक होगा। इसलिये मेरी राय है कि देवनागरी लिपि के ज़रिये ग्राम जनता में शिक्षा के प्रचार पर जोर देना चाहिये।

अंग्रेजों ने १८५७ से सबक लेकर हमारे इलाके को सबसे ज़्यादा टुकड़ों में बाँटा है। सदियों से एक साथ रहने वाले आगरा और दिल्ली भी अलग हो

गए। हिन्दीभाषी इलाका एक होना चाहिए। इसके बारे में यह बहाना भी नहीं चल सकता कि बड़े सूबे को छोटे सूबों में हम बाँटना चाहते हैं। यहाँ सवाल छोटे टुकड़ों को मिलाकर बड़ा सूबा बनाने का है। अलग-अलग प्रान्तीय सभाएँ और हुकुमतेँ चलाने का खर्च बचेगा, व्यापार और उद्योग-धन्धों की तरफ़ी में मदद मिलेगी। हमारा सांस्कृतिक आन्दोलन पूरे प्रदेश में जातीय पैमाने पर चलेगा और भाषा भी अपना जातीय रूप निखार सकेगी।

किसान-आन्दोलन की बढ़ती के लिए यह आवश्यक है कि बोलियों में साहित्य रचा जाय। अभी भी वह रचा जा रहा है। लेकिन हर जनपद के लिए, अलग सूबा या प्रजातन्त्र बनाने की माँग करना जातीय प्रदेश के बँट-वारे को दूसरे रूप से कायम रखना है। इससे सावधान रहना चाहिए।

हिन्दीभाषी लेखकों का हित इस बात में है कि वे भाषावार प्रान्त निर्माण के आन्दोलन का समर्थन करें, दूसरों की मर्जी के खिलाफ़ उन पर हिन्दी भाषा लादने का विरोध करें। इससे दूसरी भाषाओं के लोग उनकी जातीय एकता के आन्दोलन का समर्थन करेंगे। उन्हें इस भ्रम में कि संस्कृत-गर्भित होने से हिंदी दक्षिण में ज्यादा समझी जायगी, अपनी भाषा को बिगड़ने न देना चाहिए। संस्कृत-गर्भित हिन्दी के पक्षपाती साहित्य-सम्मेलन ने दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार का काफी अहित किया है। वहाँ पर हिन्दी का प्रचार किया है, 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' ने जिसकी नीति सम्मेलन से भिन्न है।

हिन्दीभाषी इलाका भारत का सबसे बड़ा इलाका है। संख्या के विचार से हिन्दुस्तानी जाति दुनियाँ की तीन-चार सबसे बड़ी जातियों में गिनी जायगी। ऋग्वेद और महाभारत की रचना इसी प्रदेश में हुई है। यहीं की नदियों के किनारे वाल्मीकि और तुलसी ने अपने अनुष्टुप और चौपाइयों गाई हैं। तानसेन और फैयाज़ खाँ, हाली, मीर, अकबर, गालिब, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला यहीं के रत्न हैं। ताजमहल और विश्वनाथ के मन्दिर यहीं के हाथों ने गढ़े हैं। आल्हा और कजली ने सैकड़ों साल तक यहीं का आकाश गुँजाया है। अठारह सौ सत्तावन में यहीं की धरती हिन्दुओं और

मुसलमानों के खून से सींची गई है । जिस दिन यह विशाल हिन्द प्रदेश एक होकर नये स्वाधीन जन-जीवन का निर्माण करेगा, उस दिन इसकी संस्कृति एशिया का मुख उज्ज्वल करेगी । किसानों और मजदूरों की एकता जो जनता की एकता की धुरी है, वह दिन निकट लायेगी । हिन्दी और उर्दू के लेखकों को इस जनता के हितों को ध्यान में रखकर अपनी जातीय परम्परा के अनुसार लोकप्रिय भाषा और जनवादी साहित्य के विकास में आगे बढ़ना चाहिए ।

तुलसी-साहित्य के सामन्त विरोधी मूल्य

दो तरह के लेखकों ने तुलसी-साहित्य के मूल्यांकन को बहुत आसान बना दिया है। पहली तरह के लेखक वे हैं जो समझते हैं कि तुलसीदास ने रामचरितमानस लिखकर इस्लाम के आक्रमण से हिन्दू धर्म की रक्षा कर ली और राम, सीता आदि के चरित्रों द्वारा हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृति के लिए अमर आदर्शों की प्रतिष्ठा कर दी। दूसरी तरह के आलोचक वे हैं जो समझते हैं कि तुलसीदास ने वर्णाश्रम धर्म के छिन्न-भिन्न होने के समय फिर ब्राह्मणवाद का समर्थन किया, नारी की पराधीनता को आदर्श के रूप में रखा और जनता को भक्तिरूपी अफीम की घूँटी देकर सुला दिया।

पहली तरह के आलोचक तुलसीदास को श्रद्धा की दृष्टि से हिन्दू धर्म का उद्धारक मानते हैं। दूसरी तरह के आलोचक उन्हें प्रतिक्रियावादी मानते हैं, उनकी कला का महत्व स्वीकार करते हुए भी उनकी विचारधारा को प्रगति-विरोधी मानते हैं। दोनों तरह के आलोचक—श्रद्धा के बावजूद—एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं और वह यह कि तुलसीदास जर्जर होती हुई सामन्ती संस्कृति के पोषक थे, इसलिये आज की जातीय संस्कृति के निर्माण में—“ऊँची” जाति और “नीची” जाति के हिन्दुओं, मुसलमानों आदि की मिली-जुली संस्कृति के निर्माण में—उनकी विचारधारा कोई मदद नहीं दे सकती।

दोनों ही तरह के आलोचक भारतीय जनता को—खासकर हिन्दीभाषी जनता को—तुलसीदास की सांस्कृतिक विरासत से वंचित कर देते हैं।

क्या इस तरह की धारणाएँ वैज्ञानिक हैं? क्या वे जनता के हित में, हमारी जातीय संस्कृति के विकास के हित में हैं?

सोलहवीं सदी या उससे कुछ आगे-पीछे भारत में भक्त कवियों की एक

१६४

बढ़ सी आगई । न सिर्फ ब्रज, अवध आदि हिन्दी प्रदेशों में बल्कि बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में भी यह बाढ़ दिखाई दी । संत-साहित्य ने एक विराट् आन्दोलन का रूप ले लिया । जनता की भाषा में ऐसी रचनाएँ होने लगीं जो गाँवों तक फैल गईं । इन रचनाओं में प्रेम को सबसे ज्यादा महत्व दिया गया, वर्ण और धर्म का भेद प्रेम में बाधक न समझा गया, अक्सर इस तरह के भेद की कड़ी आलोचना भी की गई । इन प्रेममार्गी कवियों में हिन्दू, मुसलमान, सवर्ण और अछूत, सभी तरह के लोग हुए । उनमें कुछ सगुणवादी थे, कुछ निर्गुणवादी, कुछ कृष्ण के उपासक थे, कुछ राम के, कुछ यह सब कुछ एक साथ थे । मूल बात यह थी कि वे उपासना में प्रेम को मुख्य चीज मानते थे ।

क्या यह भक्ति-आन्दोलन प्राकस्मिक घटना थी ? क्या वर्ण-व्यवस्था और धार्मिक कट्टरता के बन्धन तोड़कर प्रेम की इस धारा का बहना दैवेच्छा से हुआ ? मार्क्सवाद के अनुसार संस्कृति किसी समाज व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिम्ब है । आर्थिक व्यवस्था अगर नींव है तो संस्कृति उसके ऊपर की इमारत है । भक्ति आन्दोलन का आधार क्या था ?

जो लोग समझते हैं कि सोलहवीं सदी में सामन्ती समाज का ढाँचा ज्यों का त्यों बना हुआ था, अपने भीतर पैदा होने वाली नयी शक्तियों के प्रसार से चरमराने न लगा था, वे भक्ति-आन्दोलन को या तो पुराने सामन्ती संबंधों का ही प्रतिबिम्ब मानेंगे या फिर उसे शुद्ध कल्पनाजन्य आन्दोलन मानेंगे जिसकी जड़ें नये सामाजिक यथार्थ में गहरे न पैठी थीं । दोनों ही हालत में वे भक्ति-आन्दोलन के ऐतिहासिक महत्व से इन्कार करेंगे ।

संत साहित्य का प्रसार भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक अनूठी घटना थी, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता । अचानक संस्कृत का प्रभुत्व, जो सैकड़ों साल से चला आ रहा था, खत्म होता दिखाई दिया । जनता की संस्कृति, जिसे पुरोहितों ने अब तक दबाया था, पुष्पित और पल्लवित होने लगी । जो लोग खुलकर पुरोहितों के खिलाफ एक शब्द न कह सकते थे, अब खुले आम उन्हें चुनौती देने लगे । इसका कारण क्या था ? क्या सामन्ती व्यवस्था के कमजोर हुए बिना यह सब संभव था ?

१६ वीं सदी के लगभग—शेरशाह और अकबर के शासन काल में—उत्तर भारत में सामंती व्यवस्था काफी कमजोर हुई। नहरें खुदने और सड़कें बनने से यातायात में उन्नति हुई; एकही तरह की मुद्रा के चलन से व्यापार में सुविधा हुई; राज्य और काश्तकार में सीधा सम्बन्ध स्थापित होने से जनपदों का अलगाव कम हुआ; बारूद के इस्तेमाल से केन्द्रीय राज्यसत्ता जागीरदारों की स्वच्छन्दता कम करके उन्हें अपने मातहत कर सकी; यूरोप में भारत का व्यापार बहुत बड़े पैमाने पर आगे बढ़ा; उत्तर भारत में शहरों की संख्या ही नहीं बढ़ी, उनकी जन-संख्या और उनका व्यवसायी महत्व भी बढ़ा; जगह-जगह अपने अधिकारों के लिये जनता ने संघर्ष किये और इस तरह भी उसकी एकता बढ़ी। इन परिस्थितियों में सामन्ती ढाँचा जर्जर हुआ। उस ढाँचे के भीतर व्यापारियों द्वारा पैदा किये पूँजीवादी संबंध जन्म लेने लगे। पुराने जनपदों का अलगाव काफी दूर हुआ और वे मिल कर एक जाति (नेशन) के रूप में संगठित होने लगे। भक्ति-आन्दोलन इस जातीय आन्दोलन का सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब था।

इस जातीय आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यापारी, जुलाहे, कारीगर, किसान आदि थे। इनकी एकता की चाह, सामंती अलगाव को दूर करके मिलने की चाह भक्ति आन्दोलन में प्रकट हुई। ऊपर से देखने में मालूम होगा कि भक्त कवियों की मूल समस्या संसार से मुक्ति पाने की समस्या थी, उनके सबसे बड़े शत्रु काम, क्रोध, मद, लोभ आदि उनके मनोविकार ही थे। गांधीवादी विचारक संत साहित्य को इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हैं। लेकिन मजदूर वर्ग और पूँजीपतियों के संघर्ष के पहले आम तौर से देखा यह गया है कि वर्गसंघर्ष एक धार्मिक लिवास में सामने आता है। उस लिवास के नीचे छिपे हुए ऐतिहासिक तथ्य को देखना हर वैज्ञानिक विचारक का कर्तव्य है।

पुरोहितों और राजाओं से दबे हुए लोगों ने जब सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाने के लिये अपना अधिकार घोषित किया तब शासकवर्ग प्रसन्न नहीं हुआ। मुक्ति और धर्म पर वह अपना इजारा समझता था। हर वर्ण के लिये उसने धर्म-कर्म की व्यवस्था कर रखी थी; उसमें किसी तरह का हेर-फेर करने

पर कठोर दंड देने की व्यवस्था भी थी। इसलिये सामंतों और पुरोहितों के खिलाफ जनता के संघर्ष ने अगर धार्मिक लिवास पहना तो वह एक अनिवार्य ऐतिहासिक आवश्यकता थी।

१६ वीं सदी के जातीय आन्दोलन का नेतृत्व बहुधा व्यापारी कर रहे थे। उस आन्दोलन ने जहाँ तहाँ सक्रिय संघर्ष का रूप भी लिया। उसके सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब—भक्ति आन्दोलन—पर अक्सर निष्क्रियतावाद का रंग चढ़ा दिखाई देता है। क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग और उसके नेतृत्व के अभाव में यह रंग चढ़ना भी एक हद तक अनिवार्य था। आज उसके लिये किसी तरह का ऐतिहासिक समर्थन बाकी नहीं रह गया।

गोस्वामी तुलसीदास किस हद तक भक्ति-आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं ? किस हद तक उनके विचार हमारे सांस्कृतिक विकास में आज सहायक हो सकते हैं ?

रामचरितमानस में जहाँ-तहाँ विप्रपद पूजा को बहुत बड़ा धर्म बतलाया गया है और विशेष रूप से उत्तरकाण्ड में शूद्रों के अपना वर्णधर्म त्यागने पर जोर प्रकट किया गया है। इन पंक्तियों को अलग करके देखने से यह धारणा बन सकती है कि तुलसीदास अपने समय की सामंत-विरोधी गतिविधि से असंतुष्ट थे और वे पुरानी व्यवस्था को ही बनाये रखना चाहते थे। क्या हम वर्णधर्म के समर्थन को तुलसीदास के विचारों की ऐतिहासिक सीमा मानें जिससे उनकी मूल विचारधारा पर आँच नहीं आती ?

यथार्थ यह है कि वर्णाश्रम धर्म के समर्थक पुरोहितों ने तुलसीदास को काफी सताया था और तुलसीदास ने भी उनका उचित उत्तर देने में आगा पीछा न किया था।

तुलसीदास अपने जन्म के बारे में कहते हैं :—

“जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।

बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।”

यह समझने का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि केवल अपनी दीनता

से इष्टदेव को प्रभावित करने के लिये उन्होंने यह लिख दिया है । इसी तरह 'लालची ललात बिललात द्वार द्वार दोन, बदन मलीन मन मिटै न बिसूरना' आदि में अत्युक्ति हो सकती है लेकिन तुलसी ने, निर्धन और अकुलीन बालक को जो अपमान सहना पड़ता है, उसे स्वयं सहा था इसमें संदेह नहीं । और यह अपमान बालकपन तक सीमित न था । जैसे-जैसे उनकी लोकप्रियता बढ़ती गई, वैसे-वैसे उनका विरोध भी बढ़ा । जब लोग उनकी जातिपाँति की चर्चा करके उनका उपहास करते थे, तब तुलसीदास यही कहकर जबाब देते थे कि जो गोत्र राम का है, वही गोत्र उनके सेवक का है । कभी इन विरोधियों से उदासीन होकर वे कहते—“मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति, मेरे कोऊ काम को न हौं काहूके काम को ।” लेकिन कभी-कभी जाति-वादियों को चुनौती देते हुए वह कहते:—

“धूत कहौ, अवधूत कहौ रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ ।

काहू की बेटी सों बेटा न व्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ ।

तुलसी सरनाम गुलाम है राम कौ जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ ।

माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लेवे को एक न देवे को दोऊ ।”

इस एक छन्द में तुलसीदास के समूचे जीवन का संघर्ष चित्रित हो गया है । निःसंदेह उनके कार्यों से पुरोहित वर्ग आतङ्कित हो उठा था । वह उन्हें तरह-तरह के नाम देने लगा था और तुलसीदास को कहना पड़ा, तुम अपनी जाति लेकर खुश रहो, हमें तुमसे लेना एक है न देना दो ।

जो लोग समझते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास शूद्रों पर ब्राह्मणों के प्रभुत्व का समर्थन करते थे, वे भूल जाते हैं कि उन्होंने स्वयं इस प्रभुत्व का कटु अनुभव किया था । कवितावली के इन छंदों में महाकवि का एक निडर व्यक्तित्व हमारे सामने उभर कर आता है जो रामभक्ति का प्रचार करता हुआ वर्णवादियों के विरोध की जरा भी पर्वाह नहीं करता । समूचा तुलसी-साहित्य इस चित्र की सत्यता प्रमाणित करता है ।

वर्ण और जाति की व्यवस्था को चुनौती देता हुआ तुलसी का व्यंग्यस्वर सुनिये—कौन धौं सोमयागी अजामिल अधम कौन गजराज धौं बाजपेयी ।

इससे स्पष्ट है कि तुलसी की भक्ति सभी जातियों और वर्णों के लोगों

को मिलाने वाली थी ।

और जो लोग समझते हैं कि तुलसीदास ने इस्लाम से हिन्दू धर्म की रक्षा की, वे कृपाकर उस पंक्ति पर विचार करें जिसमें महाकवि ने माँग कर खाने और मस्जिद में सोने की बात कही है । वर्ण-व्यवस्था के रक्षकों ने ही भारतीय जनता के हृदय सम्राट् तुलसीदास की यह दशा की थी । यदि तुलसीदास कुलीनता और जातिवाद के समर्थक होते तो उनकी आत्म-निवेदन वाली रचनाओं में बार-बार यह स्वर न सुनाई देता—“लोग कहैं पोचु, सो न सोचु न संकोचु मेरे ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं ।” तुलसीदास की रामभक्ति का एक प्रमुख कारण यह है कि उनके प्रभु ने जातिहीन व्यक्तियों को अपनाया था । दोहावली का यह दोहा देखिए :—

“जातिहीन अधजनम महि, मुकुत कीन अस-नारि ।

महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहिं बिसारि ॥”

पार्वती-मंगल में शिव-विवाह का वर्णन करते हुए वर की विशेषताओं में यह भी है—

“कहहु काह सुनि रीझिहु बर अकुलीनहिं ।

अगुन अमान अजाति मातुपितु हीनहिं ॥”

अकुलीनता का जिक्र रामचरितमानस में भी है—

“निगुंन निलज कुबेष कपाली ।

अकुल अगेह दिगम्बर ब्याली ॥”

भक्त कवियों का मूल मंत्र था — “जाति-पाँति पूँछैं नहिं कोई, हरि का भजै सो हरि का होई ।” तुलसीदास इस मंत्र को सिद्ध करने वालों की चर्चा बार-बार करते हैं । वह वाल्मीकि का हवाला देते हैं जो मरा मरा कहकर भी मुनि हो गये—“जहाँ बालमीकि भये ब्याध ते मुनीन्द्र साधु, मरामरा जपे मुनि सिष ऋषि सात की ।” और भी,—

“जान आदि कवि तुलसी नाम प्रभाउ ।

उलटा जपत कोल ते मे ऋषिराउ ॥”

इसी तरह सबरी, गोध आदि का हवाला सभी संतों के साहित्य में मिलता है जिन्हें प्रेम के वश होकर राम ने मुक्ति दी ।

“सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ ।

नामु उधारे अमित खल, बेद बिदित गुनगाथ ।”

तुलसीदास की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं करती । जो “अति अधरूप” समझे जाते हैं, उन “आभीर जवन किरात खस स्वपचादि” के लिये भी वह कहते हैं कि राम का नाम लेकर वे भी पवित्र हो जाते हैं । इससे उनकी भक्ति का जनवादी तत्व अच्छी तरह प्रकट हो जाता है । जिन तमाम लोगो के लिये पुरोहित वर्ग ने उपासना और मुक्ति के द्वार बन्द कर दिये थे, उन सबके लिये तुलसी ने उन्हें खोल दिया । तुलसी की जाति और कुलीनता पर पुरोहितों के आक्षेपों का यही कारण था ।

जब राम चित्रकूट पहुँचते हैं, तब तुलसीदास कोल-किरातों को नहीं भूलते,—“यह सुधि कोल किरातन्ह पाई । हरषे जनु नवनिधि घर आई ।” बीस पंक्तियों में राम से उनकी भेंट का वर्णन करने के बाद तुलसी यह टिप्पणी देते हैं,—“रामहि केवल प्रेम पियारा । जानि लेउ जो जाननिहारा ।” जब आप याद करेंगे कि मुगल बादशाहों के ज़माने में इन कोलकिरातों का आखेट होता था और जो पकड़े जाते थे, वे काबुल में बेच दिये जाते थे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शासन में लाखों की तादाद में इन्हें ज़रायाम पेशा करार दिया गया, तब तुलसीदास की प्रगतिशीलता समझ में आयेगी ।

केवट और निषाद के प्रसङ्ग में तुलसीदास ने विशेष रूप से दिखलाया है कि ये “नीची” जाति के लोग राम को प्यार करके भरत और लक्ष्मण का दर्जा पा जाते हैं । जब निषाद अयोध्या पहुँचता है तब सब लोग उसका इस तरह आदर करते हैं मानों लक्ष्मण आ गये हों ।

“कहि निषाद निज नाम सुबानी ।

सादर सकल जोहारी रानी ।

जानि लखन सम देहिं असीसा ।

जिअहु सुखी सम लाख बरीसा ।

निरखि निषादु नगर नरनारी ।

भए सुखी जनु लखनु निहारी ।”

राम के अयोध्या लौटने पर जब निषाद विदा होता है, तब राम स्वयं

कहते हैं,—

“तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता ।

सदा रहेहु पुर आवत जाता ।”

वास्तव में तुलसी के राम पर कुछ पक्षपात का दोष भी लगाया जा सकता है कि उच्चवर्णों में से किसी को उन्होंने न तो सखा कहा, न भरत सम भ्राता कहा ! यह स्नेह मानों उन्होंने वर्णाधम लोगों के लिए ही रख छोड़ा था । तुलसी का राम-राज्य वर्णहीन नहीं है । लेकिन सरयू के राजघाट पर चारों वर्ण एक साथ स्नान जरूर करते हैं ।

“राजघाट सब विधि सुन्दर वर ।

मजहिं तहाँ बरन चारिउ नर ।”

इस तरह के राजघाटों का आज भी कितना अभाव है, सभी लोग जानते हैं ।

इसलिए जब उत्तरकाण्ड में हम तुलसी को इस बात पर क्षोभ प्रकट करते देखते हैं कि शूद्र ब्राह्मणों की बराबरी करने लगे हैं, तब हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि या तो उनके विचारों में अन्तर्विरोध है या फिर यह पुरोहितों का चमत्कार है जिन्होंने अपने काम की बातें मिलाकर रामचरित मानस को अपने अनुकूल बनाने की कोशिश की । यह काम उनके लिये कुछ नया भी न था; वह और भी ग्रन्थों के साथ यह काण्ड कर चुके थे । तुलसी की भक्ति पुरोहितों का इजारा तोड़ने वाली थी । वह आभीर जबन किरात खस स्वपचादि सभी को गले लगाती थी, केवट और निषाद जैसे वर्णाधमों पर उसका स्नेह और भी ज्यादा था । वह भक्ति उस व्यवस्था का विरोध करती थी जो मनुष्य-मनुष्य को वर्णों के अचार-विचार की जंजीरों में जकड़े हुए थी । तुलसी स्वयं उन लोगों में से थे जिन पर जातिहीनता और अकुलीनता का आक्षेप किया जाता था । उन्होंने बढ़ाई पाने के लिए पुरोहित वर्ग की खुशामद नहीं की; स्वयं कुलीन बनकर पैर नहीं पुजाये । उन्होंने समाज के इतर जनों का पक्ष लिया और राम के प्रेम के आधार पर उनकी समानता की घोषणा की । उनकी भक्ति का यह सामन्त-विरोधी मूल्य है जिसे हमें अपनाना चाहिये और समाज में ऊँच-नीच का भेद, आभीर जबन किरात खस स्वपचादि का भेद, सदा के लिए खत्म कर देना चाहिए । गोस्वामी तुलसीदास ने

जो काम भक्ति द्वारा किया था, आज जनता वह काम मानववाद और जातीय पुनर्जागरण के द्वारा करती है।

पुरोहित वर्ग ने जो व्यवहार “नीची” जातियों के साथ किया था, वही व्यवहार उसने स्त्रियों के साथ किया था। उपासना और उच्च शिक्षा से उन्हें बंचित किया गया था। उनके लिये एक ही धर्म था कि पति की सेवा करें। तुलसीदास ने स्त्रियों के लिये उपासना के द्वार खोल दिये। राम से मिलने, उनका स्वागत-सत्कार करने, उनका स्नेह पाने में स्त्रियाँ सबसे आगे रहती हैं। चाहे जनकपुर हो, चाहे अयोध्या हो, चाहे चित्रकूट का मार्ग हो, हर जगह इनकी भीड़ की भीड़ दिखाई देती है। जितनी आत्मीयता तुलसी ने परस्पर ग्रामीण स्त्रियों और सीता में दिखाई है, उतनी राम, भरत या निषाद में भी नहीं दिखाई। ये ग्रामीण स्त्रियाँ ही पूछ सकती थीं, “कोटि मनोज लजावन हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।” और सीता ही उनके प्रश्न का उत्तर दे सकती थीं :—

“बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी।

पियतन चितै भौंह करि बाँकी ॥

खंजन मंजु तिरीछे नैननि।

निजपति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि ॥”

और लोग राम के पैरों पड़ते हैं, उनसे भक्ति का वरदान माँगते हैं, ये स्त्रियाँ सीता के पैर तो पड़ती हैं लेकिन उल्टा उन्हें आशीष देती हैं।

“अति सप्रेम सिय पायँ परि, बहु बिधि देहिं असीस।

सदा सोहागिनि होहु तुम, जब लगि महि अहि सीस।”

और जब राम अयोध्या लौटते हैं तो उनके स्वागत करने में स्त्रियाँ सबसे आगे हैं। रामचन्द्र को उदय होते देखकर अयोध्या नगर में समुद्र की तरह ज्वर आ गया है और इस ज्वार की बढ़ती हुई तरंगें स्त्रियाँ ही हैं। राम-चरितमानस में भी यह दोहा अद्भुत है—

“राकाससि रघुपति पुर, सिंधु देखि हरखान।

बड़ेउ कोलाहल करत जुनु, नारि तरंग समान ॥”

दूसरी जगह राम के विरह का सूर्य अस्त होने पर तुलसी अयोध्या के सर

में स्त्रियों को कुमुद की तरह खिला हुआ देखते हैं। इन सबको तुलसीदास अप्राप्त समझते हैं तो इससे ज्यादा आश्चर्य की बात क्या हो सकती है।

सूरदास की तरह तुलसी की स्त्रियाँ भी कृष्ण को देखने के लिये पति को भी छोड़ कर भाग आती हैं,—“तुलसीदास जेहि निरखि ग्वालनी भर्जी नात पति तनय बिसारी।” इससे यह तो नहीं मालूम होता कि पति ही ईश्वर है। लेकिन सामन्ती समाज में पति-भक्ति पर सबसे सुन्दर टिप्पणी रामचरितमत्स्य में है जहाँ उमा अपनी माँ से बिदा होती है।

“जननी उमा बोलि तब लीन्ही । लौ उछंग सुन्दर सिख दीन्ही ।
करेहु सदा संकर पद पूजा । नारि भ्रम पति देव न दूजा ।
बचन कहत भरि लोचन बारी । बहुनि लाइ उर लीन्ही कुमारी ।
कत विधि सृजी नारि जग माहीं । पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं ।
भै अति प्रेम बिकल महतारी । धीरज कीन्ह कुसमउ बिचारी ।”

एक तरफ पति सेवा का उपदेश, दूसरी तरफ पराधीन नारी के लिये स्वप्न में भी सुख न मिलने पर क्षोभ; यह कला तुलसीदास को छोड़कर और कहीं नहीं है। जो लोग “ढोल गँवार शूद्र पशुनारी” वाली पंक्ति को वेदवाक्य समझते हैं, वे इन पंक्तियों पर विचार करें :

“कत विधि सृजी नारि जग माहीं ।

पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं ।”

तुलसीदास स्त्रियों को पराधीन जानते हुए भी उन्हें पशुओं की तरह ताड़न की अधिकारी कहें तो इससे अधिक निर्ममता और क्या हो सकती है ? लेकिन जैसा ममतापूर्ण हृदय तुलसीदास ने पाया था, वैसा हृदय और किस कवि ने पाया है ? ढोल गँवार वाली पंक्ति समुद्र की बातचीत में आई है जहाँ बड़ जल होने के नाते अपने को जड़ कहता है और इस नियम की तरफ इशारा करता है कि जड़-प्रकृति को चेतन ब्रह्म ही संचालित करता है। बड़ों एकदम अप्रासंगिक ढँग से यह ढोल गँवार शूद्र वाली पंक्ति आ जाती है। निःसन्देह यह उन लोगों की करामात है जो यह मानने के लिये तैयार नहीं थे कि नारी पराधीन है और उसे स्वप्न में भी सुख नहीं है।

सामन्ती व्यवस्था में स्त्रियों के लिए एक धर्म है तो पुरुषों के लिये दूसरा

है । तुलसी के रामराज्य में दोनों के लिए एक ही नियम है—

“एक नारिव्रतरत सब भारी ।

ते मन बच क्रम पतिहितकारी ॥”

इस तरह पुरुष के विशेषाधिकारों को न मानकर तुलसीदास ने दोनों को समान रूप से एक ही व्रत पालने का आदेश दिया था । लेकिन विशेषाधिकार वालों ने ढोल गँवार आदि जैसी पंक्तियाँ तो गढ़लीं, और एक नारिव्रतरत होने की बात चुपचाप पी गये । वर्तमान समाज में भी नारी अधिकार-वंचित हैं । पराधीनता में उसे सुख नहीं है । तरह-तरह की मीठी बातों से उसे भुलावा दिया जाता है लेकिन उसकी दासता ढँकी नहीं जा सकती । तुलसीदास के समय में ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थीं कि पराधीनता के पाश तोड़े जा सकें । वह केवल इस पराधीनता पर जोर प्रकट कर सकते थे और एक ऐसे समाज का स्वप्न देख सकते थे जिसमें पुरुष भी एक नारी व्रतधारी हों । राम के चरित्र में उन्होंने यही दिखाया । यह दूसरी बात है कि हिन्दी आलोचना में जितनी चर्चा सीता के पतिव्रत की है, उतनी राम के पत्नीव्रत की नहीं । आज हम इस परिस्थिति में हैं कि तुलसी के स्वप्न को सत्य कर दिखायें ।

सामन्ती समाज में साधारणतः विवाह पहले हो जाता है, प्रेम बाद में शुरू होता है । तुलसीदास ने राम और सीता के विवाह में यह दिखलाया है कि विवाह प्रेम की परिणति है । यद्यपि सीता की प्रीति पुरातन है, फिर भी लोक-व्यवहार की दृष्टि से कंकन किंकिन नूपुरधुनि में राम का मदन दुंदुभीं सुचना, सियमुख की तरफ नयन-चकोरों का देखना, और सीता द्वारा राम को हृदय में बिठा कर पलक-कपाट लगा देना आदि क्रियाओं का वर्णन तुलसी के मर्मों कवि हृदय का परिचय ही नहीं देता, उनके रूढ़ियों को तोड़ने वाले साहस का भी परिचय देता है । तुलसी केवल भक्त नहीं हैं, वे प्रेम और सौन्दर्य के कवि भी हैं । विवाह-मंडप में सीता की तन्मयता का कितना सजीव और बारीक चित्र उन्होंने खींचा है :

“राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं ।

याते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं ॥”

और अपने बरवै छन्दों में तो मानों तुलसीदास ने अवध के ग्राम-गीतों की सारी मिठास उँडेल दी है :

“का घूँघट मुख मूँदहु नवला नारि ।

चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि ॥

गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँह ।

देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह ॥

उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन ।

सिय रघुबर के भये उनींदि नैन ॥”

तुलसीदास ने जनसाधारण के सौन्दर्य-बोध की जैसी सुकुमार व्यंजना की है, वह हिन्दी साहित्य में अनुपम है । वर्तमान अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था में मनुष्य की प्रेम और सौन्दर्य की कोमल भावनाएँ बुरी तरह कुचली जाती हैं । विवाह का आधार है संपत्ति और कुलीनता; प्रेम करने के लिये प्रेयसी अलग होती है, बच्चे पैदा करने के लिये पत्नी अलग । सामन्ती बन्धनों के खत्म होने पर सौन्दर्य और प्रेम की भावनाएँ अपने सहज रूप में पल्लवित होंगी और नारी कवियों की नायिका मात्र न रह जायगी । वह श्रम करने वाली, समान अधिकार वाली नागरिक भी होगी ।

तुलसीदास ब्रह्मचर्य पालन करके तपस्या द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का आदर्श नहीं रखते । नारद में ब्रह्मचर्य पालन करने का दंभ पैदा हुआ था, सो वह बंदर का चेहरा पाकर नारी के पीछे दौड़ते फिरे । और विध्याचल में जो व्रतधारी तप कर रहे थे, वे अहल्या का उद्धार करने वाले राम के आने की बात सुन कर बहुत प्रसन्न हुए कि अब सब शिलाएँ चन्द्रमुखी हो जायेंगी । तुलसीदास के नायक साधारणजनों की तरह विवाहित जीवन बितानेवाले हैं । इसलिए तुलसीदास योगवादियों के सहज विरोधी बन जाते हैं । उनके लिये वह कहते हैं, “जागें जोगी जंगम जती जमाती ध्यान धरें डरें उर भारी लोभ मोह कोह काम के ।” काम क्रोध मद लोभ को जीतने वाले वीर लोग रात भर ध्यान लगाए जागा करते हैं लेकिन “सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के ।” सूरदास जैसे कवियों की तरह तुलसीदास भी योग के मुकाबले में सगुण की सरस उपासना की हिमायत करते हैं । कृष्ण गीतावली में तुलसी की

गोपियाँ भी कहती हैं—

“जोग जुगति अरु मुकुति बिविध विधि वा मुरली पर वारौं ।”

हिन्दी में अनेक ऐसे पुरानपंथी लेखक हैं जो योग के उद्धार में भारतीय संस्कृति का प्रसार देखते हैं। उन्हें याद रखना चाहिए कि तुलसी, सूर आदि कवियों ने चार सौ साल पहले ही भारतीय संस्कृति को चमत्कारवादियों के प्रभाव से मुक्त करने का बीड़ा उठाया था। कुण्डलिनी जगाने की कितनी ही नवीन कोशिशें करें, यह अर्द्धसामन्ती समाज व्यवस्था अब कुछ ही दिनों की मेहमान है।

बहाँ तक संसार के प्रति दृष्टिकोण का संबंध है, तुलसीदास और निगुणवादियों में एक सीमा तक कोई अन्तर नहीं है। उनके लिये भी ब्रह्म व्यापक बिम्ब, अनीह और अभेद है। वेदांतियों की तरह एक जगह वह कहते हैं, ‘सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा ॥’ निगुणियों की तरह वह कहते हैं, ‘सून्य भीति पर चित्र उरहे, तनु धिन लिखा चित्तेरे।’ ‘द्वैत जनित संसृति दुख’ वह भी दूर करना चाहते हैं। तुलसीदास ने ये धारणाएँ प्राचीन भाववादी दर्शन से ली हैं। लेकिन इन स्थापनाओं पर उन्होंने अपनी तरफ से जो टीका टिप्पणी की है, वह मूल स्थापनाओं को काफी बदल देती है। वह टीका टिप्पणी ध्यान देने योग्य है।

गोस्वामी तुलसीदास नाम और रूप को ब्रह्म की दो उपाधियाँ मानते हैं। इनमें भी वह रूप को नाम के अधीन मानते हैं। उनका कहना है कि नाम के बिना रूप का ज्ञान नहीं होता।

‘देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना।

रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतलगत न परहिं पहचाने।’

नाम के माने भाषा, तुलसी के सिद्धांत का परिणाम यह निकलता है कि ज्ञान भाषा से परे नहीं है। वाणी और अर्थ की एकता की घोषणा करते हुए वह कहते हैं, ‘गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न।’ भाषावादी दर्शन ज्ञान को भाषा से स्वतंत्र मानता है; वस्तुवादी दर्शन दोनों की एकता मानता है। तुलसीदास की स्थापना भाषावादी दर्शन के प्रतिकूल है।

नाम के बिना निगुणपंथियों को भी निगुण ब्रह्म का पता नहीं लगता,

इसलिए अगुन और सगुन के बीच तुलसीदास नाम की साखी मानते हैं, नाम के बिना ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, इसलिये वह नाम को ब्रह्म से भी बड़ा मानते हैं, 'कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तेँ ।' सच्चिदानन्द ब्रह्म नाम-निरूपण से ही प्रकट होता है । इस तरह ब्रह्म को नाम से बाँध कर, नाम को ब्रह्म से भी बड़ा दिखाकर गोस्वामी जी ने ब्रह्म की अगोचरता पर प्रतिबन्ध लगा दिया है । वास्तव में उनका सारा दर्शन ब्रह्म की गोचरता पर निर्भर है, इसीलिये संसार में उसकी 'लीला' उनके लिये इतनी आकर्षक हो जाती है ।

गोस्वामी तुलसीदास ने कई जगह माया की चर्चा की है लेकिन उससे यह नतीजा निकालना कठिन होगा कि वह संसार को मिथ्या मानते थे । उल्टा वह उन लोगों को फटकारते हुए दिखाई देते हैं जो संसार को मिथ्या कहते हैं । अपनी व्यंग्यपूर्ण शैली में वह कहते हैं,—

“भूटो है भूटो है भूटो सदा जग,
संत कहंत जे अंत लहा है ।
ताको सहै सठ संकट कोटिक,
काढ़त दंत करत दहा है ।
जानपनी को गुमान बड़ो,
तुलसी के विचार गँवार महा है ।
जानकी जीवन जान न जान्यो,
तौ जान कहावत जान्यो कहा है ॥”

संसार को मिथ्या कह कर जो लोग अपने ज्ञान की डींग हाँकते हैं, उन्हें स्पष्ट शब्दों में तुलसी ने गँवार कहा है । यहाँ वह अपने समय के सभी सन्तों से आगे बढ़े हुए हैं क्योंकि किसी ने इतनी स्पष्टता से मायावाद का खंडन नहीं किया । यहाँ वह वस्तुवादी जीवन दर्शन के बिल्कुल निकट हैं ।

हिंदी साहित्य में जो भाववादी लेखक संसार को मिथ्या कह कर जनता का ध्यान अतीन्द्रिय ज्ञान, अन्तर्चेतना आदि की तरफ ले जाना चाहते हैं, उनकी प्रतिक्रियावादी विचारधारा का विरोध करने में तुलसी की विश्वासभरी वाणी हमें आज भी प्रेरणा देती है ।

तुलसीदास की रचनाओं में बहुत से देवी देवता मिलते हैं। उनका ऐसा सजीव चित्रण हुआ है कि पाठक यही समझता है कि गोस्वामी जी इन सब के अस्तित्व पर विश्वास करते होंगे। लेकिन वह 'व्यापकु एक ब्रह्म अविनासी' में भी विश्वास प्रकट करते थे और जहाँ अविनासी ब्रह्म एक है, वहाँ अनेक देवीदेवताओं का अस्तित्व भ्रम ही हो सकता है।

वास्तव में देवताओं को अपना काव्यविषय बनाते हुए तुलसीदास ने पुराणों में बताई हुई उनकी रूपरेखा में काफी फेरफार किया है। उनका उद्देश्य स्पष्ट है, भिन्न मतवालों को राम की भक्ति के आधार पर एक करना। निगुण और सगुणवादियों को वह नाम के आधार पर एक करते हैं, शैवों, शाक्तों और वैष्णवों को एक करने के लिए शिव को राम का प्रेमी, सीता को जगदम्बा का अवतार आदि कहते हैं। तमिलनाडु के मन्दिरों में जैसे विष्णु और शाक्त की मूर्तियाँ एक साथ दिखाई देती हैं, वैसे ही रामचरितमानस में शैव, शाक्त और वैष्णव तीनों को संतुष्ट करने की सामग्री दी गई है। बहु-देवोपासना का यह रूप लौकिक व्यवहार से ही निश्चित हुआ है। कृष्ण के लिये उन्होंने कृष्ण गीतावली भी लिख दी। उनके समय में जातीय आन्दोलन की जो धारा एकता की तरफ बह रही थी, भिन्न मत वालों के इष्ट देवों के साथ यह उदार व्यवहार उसी का प्रतीक है।

लेकिन तुलसी-साहित्य का मूल्य इससे अधिक है। तुलसी की भक्ति मानववाद में डूबी हुई है। यह कवि मनुष्य का सबसे बड़ा उपासक है। तुलसी ने प्राचीन महाकाव्यों की मानववादी परम्परा को आगे बढ़ाया है। "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" पर रामचरितमानस मानों सजीव भाष्य है। अनेक बार तुलसी ने भक्त को भगवान से बड़ा बतलाया है, इससे अधिक वह मानव प्रेम का प्रमाण क्या दे सकते थे? जब भरत चित्रकूट जाते हैं तब बादल उन पर छाया करते चलते हैं, शीतल हवा चलती है और राम को भी मार्ग वैसा सुखद नहीं होता जैसे भरत को। और अन्त में वह स्पष्ट कह देते हैं, "मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तैं अधिक राम कर दासा।"

राम के प्रति तुलसी का सेवक भाव है। दरिद्रता और सामाजिक उत्पीड़न के बीच तुलसी राम की तरफ हाथ उठते हैं, कितनी व्यथा के साथ, यह

कवितावली और विनयपत्रिका के अनेक पदों में देखा जा सकता है। ऐसी पीड़ा, ऐसा उत्कट आत्मनिवेदन हिन्दी साहित्य में और कहीं प्रकट नहीं हुआ। तुलसीदास जानते थे “नहिं दरिद्रसम दुख जग माहीं।” उन्होंने अनुभव किया था, ‘आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की।’ उन्होंने राम से प्रार्थना की थी कि दरिद्रता के रावण ने संसार को दबा रखा है, आकर रक्षा करो,—‘दारिद्र दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।’ इसीलिये वह इतना व्यथित होकर राम से कहते हैं, “तुम जनि मन मैलो करो लोचन जनि फेरो।”

लेनिन की मृत्यु पर स्टालिन ने कहा था, “अतीत काल में बीसियों नहीं सैकड़ों बार श्रमिक जनता ने कोशिश की है कि अपनी पीठ से उत्पीड़कों को उतार फेंके और अपनी भाग्य डोर अपने हाथ में ले। लेकिन हर बार परास्त और अपमानित होकर उसे पीछे हटना पड़ा है, हृदय में क्रोध और लाञ्छन, क्रोध और निराशा भरे हुए उसने किसी रहस्यमय दैव की तरफ हाथ उठाये हैं जहाँ से उसे मुक्ति की आशा थी।”

राम की तरफ तुलसी के सेवक भाव पर जैसा प्रकाश इन पंक्तियों से पड़ता है वैसा आलोचना की बीसियों पोथियों से नहीं पड़ता। राम उनके लिये आशाओं का केन्द्र बन गये, अपमान और लाञ्छन का मुकाबला करने के लिए एक अस्त्र बन गये। जब वह लोगों को दूसरों के सामने हाथ फैलाते देखते हैं तो वे मना करते हैं,

“जग जांचिये कोऊ न जांचिये तो

जिय जांचिये जानकीजानहिं रे।”

राम उनके लिये “दारिद्र दोष दवानल हैं” जो औरों के सामने जांचना खत्म कर देते हैं। इसी तरह वह ललकारते हुए दिखाई देते हैं, “जिन डोलहिं लोलुप कूकर ज्यों तुलसी भजु कोसलराजहिं रे।” जब वह सामंतों को गज-शाला और पत्नीशाला से सुशोभित अपनी सम्पत्ति पर गर्व करते देखते हैं तो कहते हैं, “ऐसे भये तो कहा तुलसी जुपै जानकीनाथ के रंग न राते।”

तुलसी के राम उनकी आशाओं के केन्द्र ही नहीं हैं, मनुष्य में वह जिन तमाम नैतिक गुणों को प्यार करते थे, वह उनके प्रतीक भी थे। ब्रह्मरूप में भले ही

वह निगुण निर्विकार हों, मानवरूप में वह किसी देश-काल की सीमाओं में गतिशील समाज के मानव का ही प्रतिबिम्ब हो सकते हैं। तुलसी के राम भारतीय जनता के नैतिक गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके चरित्र में पितृ-भक्ति, भ्रातृप्रेम आदि पर बारबार लिखा गया है लेकिन तुलसीदास का लक्ष्य परिवार में पिता के अधिकार की रक्षा करना न था। राम की मानवीय सहानुभूति माता, पिता, भाई, निषाद सभी के लिये है। विशेषता यह है कि जो जितना त्यागी है, निःस्वार्थ है और दलित है, राम का प्रेम उसके लिए उतना ही अधिक है। भरत और निषाद पर उनका प्रेम इसी कारण है। यह प्रेम पारिवारिक संबंधों पर ही निर्भर नहीं है; उसका आधार व्यापक सामाजिक संबंध हैं। समाज में चाहे दुखी-दीनों और निःस्वार्थ सेवकों को कोई न पूछे, राम उन्हें पूछने वाले हैं।

तुलसी के राम न्याय-अन्याय के संघर्ष में तटस्थ नहीं हैं। वह न्याय का सक्रिय पक्ष लेते हैं। लक्ष्मण के मुकाबले में वह ज्यादा धैर्य दिखलाते हैं लेकिन उनके धैर्य की एक सीमा है। वह सीमा पार होने पर वह शस्त्र उठाने में जरा भी आगा-पीछा नहीं करते। यह गुण हमारी जनता का विशेष गुण है। वह बड़ी सहनशील है लेकिन एक सीमा तक ही। उस सीमा के पार होने पर वह अन्यायी को दंड देने के लिए उठ खड़ी होती है। रासलीला वाले कृष्ण की अपेक्षा तुलसी को धनुर्धर राम अधिक प्रिय हैं; इसका यही कारण है, “राजिव नयन घरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक।”

जब परशुराम का क्रोध सीमा पार कर जाता है, तब राम उन्हें दृढ़ चेतावनी देते हैं :—

“देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होइ बलवाना।

जौ रन हमहिं प्रचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥”

भारतीय जनता में जो कुछ सबसे अच्छा है, जो रक्षा करने लायक है और जिस पर हम गर्व कर सकते हैं, वह इन पंक्तियों में प्रकट हुआ है। राम की इस धीरता और शूरता का चित्रण करके तुलसी ने हमारे जातीय चरित्र को गढ़ने में अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया है।

इसी तरह जब समुद्र राम को रास्ता नहीं देता, समझाने और बिनती

करने पर भी नहीं पसीजता, तब तुलसी कहते हैं :

“विनय न मानत जलधि जड़, गए तीन दिन बीति ।

बोले राम सकोप तब, मय बिनु होय न प्रीति ॥

संधाने प्रभु बिसिख कराला ।

उठी उदधि उर अंतर ज्वाला ।”

इसी तरह रावण का अन्याय देखकर पहले दूत द्वारा राम उसे समझाने की कोशिश करते हैं लेकिन जब वह नहीं मानता, तब उसका हृदय-परिवर्तन करने के लिये वह सत्याग्रह नहीं करते, उससे युद्ध छेड़ देते हैं। राम का सारा चरित्र आत्मपीड़ा द्वारा निष्क्रिय प्रतिरोध का खंडन करता है। कहना न होगा, यह बहुत ही महत्वपूर्ण नैतिक मूल्य है जिसे हमें अपनाना चाहिये।

रामचरितमानस में, विशेषरूप से अर्धोध्याकाण्ड में, जो वेदना का सागर लहराता हुआ दिखाई देता है, वह सामन्ती समाज में मनुष्य की वास्तविक पीड़ा से ही उत्पन्न हुआ है। माता-पिता से विदा होती हुई लड़कियाँ, घर में पुत्र वियोग सहती हुई माता आदि के चित्र तुलसी ने समाज से ही लिये हैं। लेकिन इस करुणा में भी सुख-सौंदर्य की चाह बादलों में बिजली की तरह कौंध जाती है। तुलसी का व्यंग्य और हास्य भारतीय जनता की कभी न मिटने वाली जिन्दादिली से पैदा हुआ है। वह कठिनाइयों पर हँसना जानती है, जब कठिनाई बढ़ जाती है, तब व्यंग्य और भी पैना हो जाता है। क्रोधी परशुराम के सामने लक्ष्मण का व्यंग्य, रावण की सभा में राज्ञों से घिरे हुए अंगद का व्यंग्य इसी तरह का है। तुलसी का व्यंग्य अन्याइयों, अत्याचारियों के लिये है; दलितों और पीड़ितों के लिये, स्त्रियों और बालकों के लिये उन के हृदय में केवल सहानुभूति है। राम के बालरूप का वर्णन करके, कौसल्या और भरत के प्रेम का वर्णन करके एक तरफ वह हमारी मानवीय सहानुभूति को और निखारते हैं, तो राम के चरित्र से वह शूरता और धीरता के भावों को पुष्ट करते हैं। इस तरह तुलसी मानव आत्मा के एक कुशल शिल्पी साबित होते हैं।

तुलसी की मानवीय सहानुभूति का आधार सामाजिक यथार्थ है। तत्कालीन समाज का जैसा भरापूरा चित्र उनकी रचनाओं में मिलता है, वैसा उस

समय के और किसी कवि की रचनाओं में नहीं मिलता । जनता की दरिद्रता, उसके क्लेशों का वर्णन उन्होंने बड़े ही यथार्थवादी ढंग से किया है, “खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि बनिक को बनिय न चाकर को चाकरी ।” बड़ी स्पष्टता से उन्होंने समाज में सामन्तों के कुशासन का सवाल उठाया है । एक दोहे में वह देवताओं और राजाओं को स्वार्थी बतलाते हुए कहते हैं कि एक को बलि से मतलब है, दूसरे को कर से;

“बलि मिस देखे देवता, कर मिस मानव देव ।

मुए मार सुविचार-हित, स्वारथ-साधन एव ॥”

राजा और प्रजा के संघर्ष में तुलसी प्रजा के साथ हैं । रामचरितमानस में वह प्रजा को सताने वाले राजाओं के लिए कहते हैं :

“जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । ते नृप अवसि नरक अधिकारी ।”

और भी, दोहावली में वह उन राजाओं के पतन की भविष्यवाणी करते हैं जो प्रजा को सताते हैं—

“राज करत बिनु काज ही, करैं कुचालि कुसाज ।

तुलसी ते दसकंध ज्यों, जइहैं सहित समाज ॥”

तुलसी ने दुष्ट राजाओं की निन्दा ही नहीं की, भारतीय जनता की आशाओं को मूर्त रूप देते हुए समता के आधार पर एक सुखी समाज की कल्पना भी की है ।

“अल्प मृत्यु नहि कवनिउँ पीरा ।

सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा ।

नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना ।

नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥”

यह सुखी समाज स्वर्ग में नहीं बना वरन् इसी जीवन में, इसी धरती पर बना है । तुलसी का रामराज्य स्वर्ग में नहीं, अवध में है और राम कहते हैं—

“जद्यपि सब बैकुंठ बखाना । बेद पुरान बिदित जग जाना ।

अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ । यह प्रसंग जाने कोउ कोऊ ॥”

तुलसीदास ने एक सुखी समाज की कल्पना ही की थी जिसमें दरिद्रता-विषमता मिट गई हो । अब हम अपनी आँखों से देख रहे हैं कि मनुष्य

अपने प्रयत्न से ऐसा समाज रच सकता है। तुलसीदास का स्वप्न श्रमिक जनता के लिए एक धरोहर है जिससे प्रेरित होकर वह समाजवाद के लिये मंजिल-दर-मंजिल बढ़ती जायगी।

तुलसी का मानव-प्रेम उनकी कविता का स्रोत है। उनके लिए साहित्य न तो सामन्तों के मनोरंजन का साधन है, न निरुद्देश्य प्रयोग है। वह ऐसे साहित्य के पक्षपाती हैं जो जनता का हित करे—

“कीरति भनिति भूति भल सोई।

सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥”

इसलिए उनकी कविता अलंकारशास्त्र के उदाहरण पेश करने के लिए नहीं रची गई; वह प्रेम और आनन्द की नदी की तरह बह चलती है। लेकिन रोमाण्टिक कवियों की तरह तुलसीदास कविता को स्वतःस्फूर्त प्रवाह नहीं मानते। उसमें विचार और चिन्तन का योग होता है। उन्होंने एक सुन्दर रूपक में विचारों के महत्व की ओर यों संकेत किया है—

“हृदय सिंधु मति सीप समाना।

स्वाती सारद कहहिं सुजाना ॥

जो बरखै बर बारि बिचारू।

होंहि कबित मुक्ता मनि चारू ॥”

तुलसीदास की यह स्थापना साहित्य के प्रति सामन्ती विचारधाराओं से ही लड़ने में मदद नहीं देती, वह पूंजीवादी साहित्यसिद्धान्तों से भी लड़ने में मार्गदर्शन करती है। कला कला के लिए या सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त होकर प्रयोग करने की स्वाधीनता की गुहार मचाने वाले साहित्यकारों का दिल टटोलिये। हृदय-सिंधु की जगह इनका दिल सड़े हुए पानी से भरी हुई गड़ही की तरह है; उसमें जनता से प्रेम के बदले देश की तरफ से उदासीनता और सम्राज्यभक्ति के बगूले उठते हैं। ये लोग ‘फॉर्म’ की स्ट लगाकार साहित्य में उच्चकोटि के विचारों के महत्व को अस्वीकार करते हैं। इनकी मति सीप के समान नहीं है जिससे मोती निकले, वह घोंघे की तरह है जो सेक्स के लिए मुँह फैला कर अपने अन्दर सिमट जाता है। जन-संस्कृति, ग्राम गीतों, प्राचीन साहित्य से इनकी सरस्वती नहीं जाग्रत होती, न विदेश

के जनवादी लेखक इन्हें अच्छे लगते हैं, इनकी प्रेरणा का स्रोत एज़रा पंडुड, टी० एस० इलियट, स्पेंडर आदि लेखक हैं जो जन-शिविर के विरोधी हैं। ऐसे लेखकों का विरोध करना, जनता के हित में अपनी संस्कृति का विकास करना उन तमाम साहित्यकारों का कर्तव्य है जो तुलसी की विरासत पर गर्व करते हैं।

यहाँ मेरा उद्देश्य तुलसी के सभी विचारों का मूल्यांकन करना या उनकी कला का विवेचन करना नहीं है। मेरा उद्देश्य वर्णाश्रम, नारीसमस्या, राजा-प्रजा सम्बन्ध को लेकर कुछ वामपंथी लेखकों में फैली हुई गुमराहियों का निराकरण करना है। कोई भी लेखक अपने समय के सामाजिक यथार्थ को गहराई से देखे और अपनी रचनाओं में उसे प्रतिबिम्बित किये बिना महान् साहित्यकार नहीं हो सकता। तुलसी का साहित्य उनके विचारों को अलग करके महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता।

तुलसी के समय का सामाजिक यथार्थ क्या है? उनके समय का सामाजिक यथार्थ जर्जर होतो हुई सामन्ती व्यवस्था है। तुलसी इस व्यवस्था के रत्नक नहीं हैं। और सामन्तों के उत्पीड़न के विरुद्ध उनकी सहानुभूति साधारण जनों और स्त्रियों के साथ है। उन्होंने स्वयं इस उत्पीड़न का अनुभव किया था। इसलिये यह धारणा कि तुलसी नारी की पराधीनता के हामी थे, ब्राह्मणों के खिलाफ शूद्रों की बगावत में वह ब्राह्मणों के साथ थे, उनके समूचे साहित्य के अध्ययन से सही साबित नहीं होती।

तुलसी की भक्ति समाज के लिये अफीम नहीं थी। वह जन-जागरण का एक साधन थी। भक्त तुलसीदास मूलतः मानववादी हैं और उनके साहित्य की महत्ता वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों का वर्णन करने में है, जनसाधारण की वेदना और उससे मुक्ति की कामना का, जनता के नैतिक गुणों का चित्रण करने में है, न कि सेवक भाव से कृपा की भिन्ना माँगने में।

तुलसी का ब्रह्मवाद, बहुदेवोपासना, “स्वान्तस्तमः शान्तये” रचना करना एक धार्मिक आवरण है जो सामन्ती व्यवस्था के भीतर पुष्ट होने वाले जातीय आन्दोलनों पर पड़ा हुआ दिखाई देता है। यह आवरण मूल्यवान नहीं है; मूल्यवान है वह सामाजिक तत्व जो उसके भीतर छिपा हुआ है।

तुलसी हमारे जातीय जन-जागरण के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी कविता की आधार शिला जनता की एकता है। मिथिला से लेकर अवध और ब्रज तक चार सौ साल से तुलसी की सरस वाणी नगरों और गाँवों में गूँजती रही है। हमारी जातीय एकता और उसके पुनर्जीवन का काम अभी अधूरा है। साम्राज्यवादी, सामन्ती अवशेष और बड़े पूँजीपतियों के शोषण से हिंदी-भाषी जनता को मुक्त करके उसकी जातीय संस्कृति को विकसित करना है। हमारे जातीय संगठन के मार्ग में साम्प्रदायिकता, ऊँचीच के भेद भाव, नारी के प्रति सामन्ती शासक का रुख आदि अनेक बाधाएँ हैं। तुलसी का साहित्य हमें इनसे संघर्ष करना सिखाता है। तुलसी का मूल सन्देश है, मानव-प्रेम। मानव प्रेम को सक्रिय रूप देना, सहानुभूति को व्यवहार में परिणत करके जनता के मुक्ति-संघर्ष में योग देना हमारा कर्तव्य है।

तुलसी का साहित्य कला की शिक्षा देने के लिये अक्षय निधि है। उनसे हमें बार-बार सीखना चाहिये, कैसे उनकी वाणी जनता को इतनी गहराई से आन्दोलित कर सकी। उनसे हमें गम्भीर मानव सहानुभूति और उच्च विचारों की शिक्षा लेनी चाहिये जिनसे साहित्य महान् होता है।

तुलसी की ऐतिहासिक सीमाओं की बात करके माफी माँगने की ज़रूरत नहीं है। ज़रूरत है तुलसी पर गर्व करने की, इस बात पर दृढ़ विश्वास करने की कि जिस जाति ने तुलसी को जन्म दिया है वह अजेय है, इस बात पर रोष करने की कि तुलसी की सन्तान आज संसार की सबसे पिछड़ी हुई, बिखरी हुई, निर्धन और दलित जातियों में से है। जिस सामन्ती व्यवस्था ने तुलसी जैसे सहृदय कवि को अपार कष्ट दिये थे, उसकी तरफ कभी तटस्थ न रहना चाहिये। जनता की एकता हमारा अस्त्र हो, संघर्ष हमारा मार्ग और ऐसा समाज हमारा लक्ष्य हो जिसमें पीड़ित और अपमानित मनुष्य को हताश होकर रहस्यमय दैव की तरफ फिर हाथ न उठाना पड़े। इस कार्य में एक चिरंतन प्रेरणा की तरह तुलसीदास हमेशा हमारे साथ रहेंगे।

मैथिली और हिन्दी

मैथिली स्वतन्त्र भाषा है या हिन्दी की बोली ?

इस प्रश्न पर दो मत हैं । एक मत यह है कि वह स्वतन्त्र भाषा है और दूसरा मत यह है कि वह हिन्दी की बोली है ।

यह प्रश्न आज की सामाजिक परिस्थितियों में विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण हो गया है । सारे देश में भाषा के आधार पर प्रान्त बनाने की माँग उठ रही है । आन्ध्र की जनता ने इस माँग के लिए जोरदार आन्दोलन करके आंशिक सफलता पायी है । पंजाब में इसके लिए आन्दोलन चल रहा है । मराठी, कन्नड़ आदि भाषाएँ बोलने वाले लोग अपने जातीय इलाकों के पुनर्गठन की माँग कर रहे हैं । हिन्दीभाषी जनता ने अभी इस तरह की माँग सङ्गठित रूप से नहीं उठाई है; लेकिन निकट भविष्य में उस माँग का उठना अनिवार्य है ।

हिन्दी-भाषियों में इस माँग के न उठने के अनेक कारणों में दो भाषा-सम्बन्धी कारण ये हैं—(१) उनका ध्यान जातीय पुनर्गठन की समस्या से हटा कर हिन्दी-उर्दू के विवाद में लगाया गया है; (२) हिन्दी-भाषी प्रदेशों की एकता के सवाल से ध्यान हटाकर, जनपदीय आन्दोलन के नाम पर, बोलियों के अलग-अलग और उनके इलाकों के स्वतन्त्र अस्तित्व की तरफ ध्यान खींचा गया है ।

ऐसी स्थिति में मैथिली स्वतन्त्र भाषा है या हिन्दी की बोली और मिथिला का स्वतन्त्र सूबा बनना चाहिए या उसे हिन्द प्रदेश का हिस्सा माना जाय, यह समस्या हमारे लिए खास तौर से विचारणीय है ।

मैथिली का व्याकरण हिन्दी से भिन्न है । उसके शब्द-भण्डार में जहाँ बहुत से शब्द हिन्दी से मिलते-जुलते हैं, वहाँ काफी शब्द हिन्दी से भिन्न भी

हैं। उसका अपना एक समृद्ध साहित्य है और मैथिली में अभी भी गद्य-पद्य का साहित्य रचा जा रहा है।

लेकिन हिन्दी की दूसरी बोलियों का व्याकरण भी हिन्दी से भिन्न है। अवधी, ब्रज, भोजपुरी आदि का व्याकरण हिन्दी से भिन्न है। यह भिन्नता हम दूसरी भाषाओं और उनकी बोलियों में भी देख सकते हैं। मिसाल के लिए वेल्श और अंग्रेजी, प्रोवाँसाल और फ्रेंच, लहँदा और पंजाबी आदि का व्याकरण एक दूसरे से भिन्न है। इसलिए व्याकरण की भिन्नता से यह साबित नहीं होता कि मैथिली हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा होनी चाहिए।

मैथिली की तरह ब्रज, अवधी आदि का शब्द-भण्डार हिन्दी से एक हद तक भिन्न है। वेल्श, प्रोवाँसाल, लहँदा आदि का शब्द-भण्डार भी अंग्रेजी, फ्रेंच, पंजाबी आदि से एक हद तक भिन्न है। यहाँ एक ध्यान देने की बात है कि मैथिली और हिन्दी की क्रियाएँ अधिकतर समान हैं। क्रियाओं की समानता मैथिली और हिन्दी की समानता का बहुत बड़ा कारण है। मैथिली के लिए अक्सर यह कहा जाता है कि वह बँगला के निकट है या कि वह हिंदी की अपेक्षा बँगला के निकट है। लेकिन बँगला की पच्चीसों क्रियाएँ, जो हिन्दी के लिये गैर हैं, मैथिली के लिये भी गैर हैं। इसलिए केवल धातु रूपों में कुछ समानता होने पर मैथिली हिन्दी की अपेक्षा बँगला के अधिक निकट नहीं हो जाती। इस सिलसिले में मूल क्रियाओं के समूचे भण्डार पर नज़र डालना आवश्यक होगा।

मैथिली में क्रियाओं के कुछ प्रयोग देखिए। ये उदाहरण डा० जयकान्त मिश्र की पुस्तक “मैथिली साहित्य का इतिहास” (अंग्रेजी) के दूसरे खंड से लिए गये हैं—

(१) शान शृङ्गारादि सम्बन्धी कविता पराकाष्ठा धरि पहुँचि गेल अछि।
आव राष्ट्रीये विषयक कविताक प्रकाश होएव परमावश्यक अछि। कहवाक तात्पर्य जे अग्रन्याय विषयक काव्यरस में हमर भारतवर्ष पूर्ण अवगाहित भए चुकल। (पृ० ६६)

(२) जानकि जननि देवि मिथले विजय हो। (पृ० १००)

(३) भगवन् हमर ई मिथिला सुख शान्ति केर घर हो। (उप०)

- (४) शिव की सकितथि विष पचाए यदि लितथि न माये ।
जएतथि सिन्धु सुखाए बाड़वानलहिक हाये ।
की न ठिटुरि हिमवान मरण शय्यागत रहितथि ।
यदि न अमरधुनि ! अहँक अमृत रस भाग्ये पिबतथि ।
शत-शत ज्वालामुखी मुख, जरि जैतथि भूदग्ध भए ।
जौ न जुड़वितन्हि सुधामयि, अहँक सुधाधिक विमल पय ॥ (पृ० १०४)
- (५) जगतहित लए माथ मथि मथि हम स्ययं उन्मन रहै छी ।
संकलित कए कुसुम जग लए कंटक [क] बंधन सहै छी ।
हमर वीणाकेर आलोड़न सुनै अछि चाव सँ जग ।
किन्तु रे क्यों पहुँचि सकइत जौ हमर जर्जर हृदयलग ।
हम अपन क्रन्दनहुँ सँ जगक विनोद गान दै छी ।
भीख माडी, पटहु नहि भेटओ, मुदा हम उएह शंकर ।
सहि विषक अभिशाप अपने, सुधाधारक दैछ जे वर । (पृ० ६०८)
- (६) फाटल चीटल खड़की पहिरी रुख मुख रोटी फाँका अधार ।
अन्हरौखे सँ भरि सौँभ कतहु अम करी अमिक छी हम बाबू ।
(पृ० १०६)
- (७) तास सतरंज छोड़, भाङ केर गंज छोड़ू
देखू निज काज धाज आव तिरहुतिया ।
जूम पर जूम छोड़ू, गप्प केर धूम छोड़ू,
बढ़बाक यत्न करू आब । (पृ० १०६६)
- (८) पुरजन परिजन सब छोड़ि छाड़ि
पहिलुक परिचय कै तोड़ि ताड़ि
अहिबातक पातिल फोड़ि फाड़ि
हम जाय रहल छी आन ठाम ।
माँ मिथिले ! ई अन्तिम प्रणाम । (पृ० ११०)
- (९) उठह कवि ! तौ दहक ललकार कने
गिरि शिखर पर पथिक दल चढ़तैक रे । (पृ० ११०)
- (१०) भोजनक विन्यास आ वाक्चातुर्य जैनिका सिलबाक होइन्हि से

तिरहुत आवि कऽ सीखथि । एहन सुन्दर सीटल गप्प, कटगर विनोद, सरस परिहास आर कतय भेटत ? (पृ० १२८)

इन उदाहरणों में पहुँचना, होना, कहना, चुकना, सकना, लेना, जाना, आना, ठिठुरना, रहना, पीना, जलना, जुड़ना, करना, सहना, सुनना, देना, माँगना, भेंटना, पहनना, छोड़ना, बढ़ना, तोड़ना, फोड़ना, उठना, चढ़ना सीखना, आदि हिन्दी की सामान्य क्रियाएँ हैं। इसलिए धातुओं की दृष्टि से मैथिली हिन्दी के बहुत ही निकट है।

साधारण शब्द भण्डार में सुख, शान्ति, घर, विष, माथा, हाथ, रस, जग बंधन, चाव, हृदय, गान, विनोद, भीख, पट, वर, रूखी-सूखी, रोटी, साँझ, बाबू, ताश, शतरंज, भाँग, काज, गप्प, धूम, ठाम, प्रणाम, कवि, ललकार, भोजन इत्यादि शब्द हिन्दी के सामान्य शब्द हैं।

बोलचाल के शब्दों के अलावा जो गौर बुनियादी शब्द हैं, वे भी हिंदी के सामान्य शब्द भण्डार में हैं। ज्ञान, शृङ्गार, कविता, पराकाष्ठा, विषय, प्रकाश, परमावश्यक, तात्पर्य, अवगाहित, जननी, विजय, सिन्धु, बाड़वानल, हिमवान, मरणशय्या, अमृतसर, ज्वालामुखी, भूदग्ध, सुधामयी, विमल, वय, संकलित करना, कुसुम, कंटक, आलोड़ना, जर्जर, अभिशाप, आधार, भ्रम, भ्रमिक, पुरजन, परिचय, अन्तिम, गिरि, शिखर, विन्यास, वाक चातुर्य, परिहास आदि शब्द हिन्दी के सामान्य शब्दभंडार के हैं।

इसलिए व्याकरण की भिन्नता होते हुए भी क्रियाओं और शब्दभंडार की दृष्टि से मैथिली हिन्दी के इतनी निकट है जितनी कि कोई बोली किसी भाषा के हो सकती है।

मैथिली का साहित्य समृद्ध है। ब्रजभाषा का साहित्य भी कम समृद्ध नहीं है। प्रोवाँसाल, लहंदा आदि का साहित्य भी समृद्ध है; लेकिन इससे ये बोलियाँ फ्रेंच और पंजाबी से स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं हो जातीं।

मैथिलों को हिन्द-प्रदेश की जनता का ही एक अङ्ग बनाने में ब्रज, अवध और खड़ी बोली के साहित्य ने महत्वपूर्ण भूमिका पूरी की है। मिथिला में सूर और मीरा के गीत वैसे ही गाये जाते रहे हैं, जैसे ब्रज या अवध में। वहाँ तुलसी की रामायण वैसे ही पढ़ी जाती रही है, जैसे भोजपुरी या बुन्देल-

खंडी क्षेत्रों में। यह मिथिला और दूसरे जनपदों (ब्रज, अवध) आदि की जनता की भाषागत और सांस्कृतिक एकता का प्रमाण है। ध्यान देने की बात है कि सूर, मीरा और तुलसी इस तरह बङ्गाल या पंजाब की जनता के कवि नहीं हुए। उन्होंने मिथिला के लोगों को एक ही जातीय संस्कृति की धारा में खींच कर हिन्दी जनता के जातीय संगठन और विकास में सहायता दी।

इस सिलसिले में डा० जयकान्त मिश्र ने मैथिल साहित्य के इतिहास में कुछ रोचक तथ्य दिये हैं। डा० मिश्र मैथिली को स्वतन्त्र भाषा मानते हैं; लेकिन उन्होंने क्रियाओं और शब्दभंडार की छानबीन करके यह नतीजा नहीं निकाला। मैथिली साहित्य के इतिहास से मिथिला और बाकी हिंदी प्रदेश की जहाँ भी एकता सिद्ध होती थी, उससे उन्हें क्षोभ हुआ है। लेकिन सवाल क्षोभ या प्रसन्नता का नहीं है; सवाल है, ऐतिहासिक विकास की गति समझने का।

मिथिला में अवधी और ब्रजभाषा में रचे हुए भजनों के प्रचार का कारण बतलाते हुए डा० मिश्र ने लिखा है कि शुद्ध मैथिली में वैष्णव भजन प्रायः नहीं हैं और लोगों को जरूरत होती है तो दूसरी भाषाओं से उन्हें ले लेते हैं। उनका विचार है कि मैथिल वैष्णव अपने को सब बन्धनों से मुक्त समझता है, इसलिये शायद भजनों के लिये दूसरी जगह की भाषा को भी माध्यम मान लेता है। वह राम और कृष्ण की जन्मभूमि अवध और मथुरा की भाषाएँ अपनाता है।

मैथिल वैष्णव जितने बन्धन-मुक्त होते हैं, उतने ही बंधनमुक्त बंगाली वैष्णव भी हो सकते हैं। लेकिन बंगाली वैष्णवों ने अवधी और ब्रज के भजनों से प्रभावित होते हुए भी उन्हें मैथिलों की तरह अपनाया नहीं। मैथिलों द्वारा ब्रज और अवधी के भजन अपनाने का कारण बन्धनमुक्ति नहीं है बल्कि शेष हिन्दी जनता से उनकी भाषागत और सांस्कृतिक एकता है।

साधारण जनता में किसी दूसरी 'भाषा' के भजनों का प्रचार होना असम्भव सा है। भजन जैसी लोकप्रिय रचनाओं का चलन उन्हीं बोलियों के क्षेत्रों में हो सकता है, जो एक दूसरे के बहुत ही निकट हैं, जिनके बोलने वाले एक सामान्य जाति में घुलमिल कर एक हो रहे हों।

यदि अवधी और ब्रज की अपेक्षा बँगला मैथिली के ज्यादा निकट होती तो मिथिला में बँगला के गीतों का ही चलन होता। भौगोलिक दृष्टि से बँगाल जहाँ मिथिला का पड़ोसी है, वहाँ ब्रज और अवध उससे कोसों दूर हैं। बँगला के वैष्णव भजनों के बदले मिथिला में ब्रज के भजनों का प्रचार मैथिली-हिन्दी जनता को बढ़ती हुई जातीय एकता के कारण ही संभव हुआ।

लार्ड कार्नवालिस द्वारा पक्का बन्दोबस्त चालू होने पर मिथिला में ब्रज साहित्य का प्रचार और भी बढ़ा।

महाराज राघवसिंह के बाद यानी १८ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रजभाषा का प्रचार बढ़ा। मिथिला के अनेक कवि ब्रजभाषा में लिखते रहे हैं। यह क्रम बीसवीं सदी तक चलता रहा। वास्तव में ब्रजभाषा और खड़ी बोली के विवाद में जब पद्य के लिए खड़ी बोली को माध्यम बनाने वाले जीत गये, तब मिथिला के कवि भी ब्रजभाषा छोड़कर पद्य के लिए खड़ी बोली अपनाने लगे। डा० मिश्र ने ब्रजभाषा में लिखने वाले कवियों में लोचन के अलावा, लक्ष्मीनारायण मैथिल, हलधरदास, बलबीर, सीताराम, मैथिल रमापति, शंकरदत्त, गुमान कवि, सोन कवि, हेम कवि, ईशा कवि, गोपाल, कृष्ण, लच्छिराम, चिरंजीव, लालदास, रघुनन्दनदास, हर्षनाथ भा, सोने कवि, गोपीश्वरसिंह, बुद्धिलाल, फतुरालाल, साहेबराम, लक्ष्मीनाथ आदि कवियों के नाम दिये हैं। ये कवि ब्रजभाषा में वैसे ही कविता करते थे जैसे अवध या भोजपुर के कवि।

मैथिल कवियों ने ब्रजभाषा में रचनाएँ ही नहीं कीं, वरन् मैथिली में लिखते हुए उससे प्रभावित भी हुए। मिसाल के लिये एक लोकप्रिय कवि के गीतों को डा० मिश्र ने "Slightly contaminated by Braj bhasha" बतलाया है (उप० पृ० ४३१) अर्थात् उसके गीतों को थोड़ी बहुत ब्रजभाषा की छूत लग गयी थी। यही नहीं, १८वीं सदी के उत्तरार्द्ध में तुलसी और सूर के अनुकरण पर गीत लिखना फैशन हो गया।

मिथिला में अवधी के प्रचार का एक कारण वहाँ अवधी बोलने वाले मुसलमानों का रहना था। डा० मिश्र ने ग्रियर्सन के एक लेख से जो उद्धरण दिया है, उसमें कहा गया है कि मिथिला के सभी मुसलमान मैथिली नहीं

बोलते ; उनकी बोली अवधी से मिलती-जुलती है (उप० पृ० ४१)। 'बिहारी' हिन्दी के सिलसिले में डा० मिश्र ने लिखा है कि इससे हिंदुस्तानी के मिश्र रूप का बोध होता है, जिसे बिहार के अवधी बोलने वाले मुसलमानों ने चालू किया है। (उप० पृ० ५६)।

मिथिला में भोजपुरी का प्रवेश भी ध्यान देने योग्य है। डॉ० मिश्र के अनुसार किसी समय समूचा चम्पारन मिथिला में था। लेकिन अब वहाँ मध्यदेश की बोली या ब्रजभाषा का चलन हो गया है।

डॉ० मिश्र के अनुसार चम्पारन में भोजपुरी ने मैथिली की जगह ले ली; लेकिन इससे यह आश्चर्यजनक परिणाम निकाला गया है कि भोजपुरी मुख्य भाषा मैथिली की बोली हैं। यही नहीं, मगही भी मैथिली की बोली समझी जा सकती है और मगध विशाल मिथिला का अङ्ग बन जायगा। आश्चर्य यही है कि डॉ० साहब ने हिन्दी को भी मैथिली की बोली नहीं कहा और विशाल मिथिला में ब्रज और अवध को मिलाने का आग्रह नहीं किया। लेकिन मिथिला से बाहर डॉ० मिश्र ने भोजपुरी को पछाहीं बोली माना है और भोजपुरी प्रदेश को यू० पी० में मिला देने की सिफारिश की है (उप० पृ० ५७-५८)।

भोजपुरी के अलावा मगही की भी समस्या है जिसका सम्बन्ध खड़ीबोली से प्रायः वही है जो अवधी का। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने डॉ० मिश्र को यह सुझाव दिया था कि मैथिली का नाम छोड़कर बिहारी नाम अपनाने से मगही बोलने वाले उसकी तरफ ज्यादा आकर्षित होंगे। मैथिली और मगही दोनों से बिहारी भाषा बनेगी। इसके लिए पटना के मैथिल बुद्धजीवी मगही बुद्धजीवियों से तुरन्त सम्पर्क कायम करें और दोनों मिलकर मगही-मैथिली को एक ही भाषा 'बिहारी' कहने लगे।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने एक बहुत बड़े 'अगर' की बात कही है— अगर मगहिये मैथिल को अपनी साहित्यिक भाषा मान लेते ! लेकिन मगहिये बुद्धजीवी खड़ी बोली का बराबर प्रयोग करते रहे हैं और उनका साथ देने वालों में बहुत से मैथिली बुद्धजीवी भी मिल गये। डॉ० चटर्जी को बिहार की भाषा-परिस्थिति पेचीदा मालूम होती है; उसे वह 'बिहारी' भाषा से हल

करना चाहते हैं। बिहारी भाषा भी उनका आविष्कार नहीं है; इसका श्रेय स्वनामधन्य प्रियर्सन को है। बिहार में मगही, मैथिली और भोजपुरी बोलियाँ बोली जाती हैं और इनके बोलने वाले राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यों के लिये अधिकाधिक खड़ी बोली को काम में लाते रहे हैं, यह ऐतिहासिक सत्य है। लेकिन पेचीदा परिस्थिति को खड़ी बोली द्वारा हल करने का यह तरीका कुछ विद्वानों को पसन्द नहीं है।

ऊपर इस बात का उल्लेख हो चुका है कि प्रियर्सन के अनुसार बिहार के मुसलमान अबधीमिश्रित हिन्दुस्तानी का प्रयोग करते रहे हैं। १६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में मिथिला में उर्दू को राजभाषा का दर्जा दिया गया। पटना शहर ने हिन्दी के विकास में योग दिया और वह मैथिली का साहित्यिक केन्द्र न बन पाया। मैथिल के लिए देवनागरी लिपि का चलन हुआ। देवनागरी लिपि का चलन क्यों हुआ, यह बतलाते हुए डॉ० मिश्र ने एक कारण यह भी दिया है कि मिथिला में सरकारी और गैर सरकारी तौर पर उपन्यास, पत्रिकाएँ और मनोरंजक साहित्य का चलन हिन्दी में हुआ और मैथिली लिपि में उसका अभाव था।

किसी समय अबधी और ब्रज के भजन मिथिला में पैठ गये थे; वैसे ही नये जमाने में वहाँ खड़ी बोली के साहित्य का प्रवेश हुआ। डॉ० मिश्र ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि देवनागरी ने मैथिल लिपि को पदच्युत कर दिया (लेकिन यह काम भी मैथिल-हिन्दी जनता के जातीय विकास में सहायक हुआ)। डॉ० मिश्र इस बात से असंतुष्ट हैं कि हिन्दी के विद्वानों ने विद्यापति को हिन्दी का कवि मान लिया है। लेकिन मिथिला और शेष हिन्दी प्रदेश के सांस्कृतिक सम्बन्ध देखते हुए उनका ऐसा न करना ही आश्चर्यजनक होता।

मैथिल कवियों की भाषा पर जैसे ब्रज का असर पड़ा था, वैसे ही खड़ी बोली का असर भी पड़ा। डॉ० मिश्र इस तरह के असर को दुर्भाग्य की बात समझते हैं। एक आधुनिक लेखक रघुनन्दनदास के 'सुभद्राहरण' काव्य का जिक्र करते हुए वह लिखते हैं—“Unfortunately as in many of

the words of Raghunandandas, the influence of Hindi is writ large in the language and the handling of the plot of this Kavya' (उप० दूसरा खंड, पृ० ८६) । लेकिन इसमें दुर्भाग्य की क्या बात है ? अवधो, खड़ी बोली, मैथिली न जाने कब से एक दूसरे को प्रभावित करती रही हैं और परस्पर प्रभावों को ग्रहण करके ही उनका साहित्य विकसित हो सका है ।

मिथिला में नाटक हिन्दी में रचे गये और खेले गये हैं । इनमें डॉ० मिश्र ने पारसी कम्पनियों के हिंदी नाटकों का जिक्र किया है (उप० पृ० ११५) । उन्होंने 'मिथिला नाटक' की भूमिका से जो उद्धरण दिया है, उसमें कहा गया है कि "मिथिलहु में त अनेक गोटे नाटक मण्डली स्थिर कर शकुन्तला, हरिश्चन्द्र इत्यादि करैत छथि जाहि नाटक सबहित आधार हिन्दी भाषामय थोड़ मूल्यक किताबे होयत ।" (उप० पृ० ११६)

मिथिला में हिन्दी नाटकों का चलन मैथिल-हिन्दी एकता का दूसरा प्रमाण है ।

मिथिला में हिन्दी के चलन पर नागार्जुन के उपन्यासों में कुछ दिल-चस्प बातें मिलती हैं ।

दरभंगा मिथिला का सांस्कृतिक केन्द्र है । लेकिन वहाँ भी जन साधारण में खड़ीबोली का व्यवहार चलता है । बलचनमा, इसी नाम के उपन्यास में, दरभंगा के 'प्लॉट फारम' पर लोगों का मुआयना करके कहता है, "रूपरंग के साथ यहाँ लोगों की बोली भी बदली थी । यह काह-कुहे सुनने का पहिला मौका था मेरे लिए ।" (पृ० ४५) । "काह कुहे" पर लेखक का नोट है— "का-को वाली बोली, हिन्दी-उदू" ।

बलचनमा आगे कहता है, "अब तो मुझे भी इसी बोली की लत पड़ गई है । अपनी बोली भूलता जा रहा हूँ । बबुनी की तो बात छोड़ो, चार बरष का मेरा ननकिरवा परदिपवा फर-फर हिन्दी बोलता है ।"

इससे सिद्ध होता है कि मिथिला के बुद्धि-जीवियों ने ही हिंदी नहीं अपनायी, साधारण लोगों में भी बोलचाल के लिये हिन्दी का प्रयोग बढ़ रहा है ।

दरभंगा की तरह गया में लोगों की बोली के बारे में यथार्थदर्शी बलचनमा कहता है, “कुली भी पक्की बोली बोलते हैं। सिगरेट बेचने वाले भी काहे-कुहे करते हैं।” (पृ० १३४)

इससे यह साबित होता है कि मगध और मिथिला में जिस सामान्य जातीय भाषा का प्रसार हो रहा है, वह हिन्दी है। इसके पहले कि पटना के मगहिये बुद्धिजीवी डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी का फॉर्मूला मानकर बिहारी भाषा का चलन करें, गया के कुलियों और सिगरेट बेचने वालों ने पक्की बोली अपना ली है। यह पक्की बोली मगहियों और मैथिलों की जातीय भाषा ही नहीं है, वह उन्हें शेष हिन्दी जनता से मिलाने का भी साधन है।

पटना की बोली पर बलचनमा की टिप्पणी यह है—“पटना की तरफ शहरूपन ज्यादा है। उधर जिसको रखना कहेंगे, इधर उसको हम धरना कहेंगे। उधर के लोग साफ़ जबान बोलते हैं। यहाँ गाड़ी में बाबू लोगों के मुँह से ‘किहिस-दिहिस’ निकलता है, तो उधर तुम लोगों के मुँह से ‘किया दिया’ सुनोगे।” (उप० पृ० १३४)

इसका मतलब यह है कि बिहार का सांस्कृतिक केन्द्र पटना है। वहाँ की हिन्दी बिहार के दूसरे इलाकों के लिए आदर्श भाषा है। इस ऐतिहासिक क्रम को उलटकर मगही को मैथिल की बोली मानने और पटना को मैथिल का सांस्कृतिक केन्द्र बनाने का ख्वाब देखना बेमानी है।

नागार्जुन के दूसरे उपन्यास रतिनाथ की चाची में हम साधारण गृहस्थों के यहाँ तुलसी रामायण का पाठ होते देखते हैं (पृ० ३६)। रतिनाथ खुद ही नहीं पढ़ता, वरन् अच्छर-ज्ञान कराने के बाद अपनी चाची को भी रामायण पढ़ने लायक बना देता है (पृ० ६६)। ‘रतिनाथ की चाची’ में ब्रजभाषा का यह गीत देहात में सुना जाता है, “जागहु हो बृजराज, लाज मोर राखहु हो बृजराज” (पृ० ६२)।

‘नयी पौध’ का दिगम्बर साहित्य-सम्मेलन की परीक्षा के लिए गाँव की लड़की शकुन्तला को हिन्दी पढ़ाता है (पृ० ६५)। दिगम्बर के नाना अवधी और ब्रज में कविता करते थे। दिगम्बर ने मीरा के पद मस्त होकर सुने हैं—

“मीरा के वे अनमोल पद बहुधा दिगम्बर को अपनी लय में बहा ले जाते थे” (पृ० १११)। मीरा के गीतों के अलावा ‘चुपके-चुपके बोल मैना’, ‘काली कमली वाले तुमको लाखों पर्नाम’ आदि गीत भी वहाँ प्रचलित हैं। अदालत के नज़दीक मिथिला के बुकसेलर हिन्दी की ये किताबें बेचते हैं : “किस्सा तोता मैना, किस्सा सवाचार यार, सत्वनारायण कथा, सुन्दर काण्ड रामायण (तुसीलदास)” (पृ० ६६)।

इससे सिद्ध होता है कि मैथिल जनता के सांस्कृतिक जीवन पर बहुत कुछ उन्हीं रचनाओं का असर पड़ता रहा है जिनका असर अवध या ब्रज की जनता पर पड़ा है। निःसंदेह ‘किस्सा तोता मैना’ और ‘किस्सा सवाचार यार’ जैसे सस्ते मनोरंजक साहित्य ने भी मिथिला में खड़ी बोली के प्रचार में सहायता दी है।

ऊपर के तथ्यों से हम ये परिणाम निकाल सकते हैं।

मैथिल का व्याकरण हिन्दी से भिन्न है; लेकिन इससे वह स्वतन्त्र भाषा नहीं हो जाती। हिन्दी की दूसरी बोलियों का व्याकरण भी हिन्दी से भिन्न है। दूसरे देशों की भी भाषाएँ और उनकी बोलियाँ व्याकरण में भिन्न हैं। मैथिल और हिन्दी की क्रियाएँ अधिकतर समान हैं। यह हिन्दी मैथिली समानता का बहुत बड़ा कारण है। इस कारण हम मैथिली को बँगला की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट पाते हैं। मैथिली साहित्य में प्रयुक्त शब्द भंडार अधिकतर हिन्दी के समान है। मैथिल साहित्य समृद्ध है जैसे ब्रज और अवधी का साहित्य समृद्ध है। साहित्य का समृद्ध होना उसका पृथक् अस्तित्व सिद्ध नहीं करता।

मिथिला का सांस्कृतिक इतिहास वह साबित करता है कि वहाँ के लोग शेष हिन्दी प्रदेश की जनता का ही अङ्ग हैं। मिथिला में ब्रज और अवधी के भजनों का प्रचार हुआ। मिथिला के पच्चीसों कवियों ने ब्रजभाषा में रचना की। मैथिल पर ब्रजभाषा का असर पड़ा। तुलासी और सूर के अनुकरण पर वहाँ सैकड़ों पद बनाये गये।

मैथिल की पड़ोसी बोलियाँ - भोजपुरी और मगही एक दूसरे से घुलती

मिलाती रहीं। उन पर हिन्दी का असर पड़ा और उनके बोलने वालों ने जातीय भाषा के तौर पर हिन्दी अपनायी। चंपारन में मैथिल की जगह भोजपुरी ने ली। मिथिला में मुसलमानों ने अवधी मिश्रित हिन्दुस्तानी का चलन किया। मनोरंजक साहित्य का प्रसार हिन्दी के माध्यम से हुआ। मैथिली पर हिन्दी का असर पड़ा, बहुत से लेखक मैथिली छोड़ कर हिन्दी में लिखने लगे या मैथिली और हिन्दी में लिखते रहे, मिथिला में हिन्दी नाटकों का यथेष्ट प्रचार हुआ। ब्रजभाषा के गीत शहरी पढ़े-लिखों तक सीमित नहीं रहे, उनका प्रचार गाँवों तक में हुआ। गाँवों में तुलसी रामायण के साथ खड़ी-बोली के सस्ते मनोरंजक साहित्य और हिन्दी गीतों का प्रवेश भी हुआ। बिहार के शहरों की भाषा हिन्दी है। गया, पटना और दरभंगा के कुली तक खड़ी बोली का प्रयोग करते हैं। ये सब तथ्य जातीय निर्माण में बोलियों के निकट आने के प्रमाण हैं।

सामाजिक विकास-क्रम में मिथिला का अलगाव टूट चुका है। मिथिला की जनता सिमट कर विशाल हिन्दी जनता की भागीरथी में शामिल हो रही है। वृहत्तर मिथिला के निर्माण का खयाल, मैथिली को स्वतन्त्र भाषा और मगही को उसकी बोली समझने का विचार, हिन्दी से अलग बिहारी भाषा की कल्पना (और हिन्दुस्तानी जाति से अलग बिहारी जाति की कल्पना) आदि अवैज्ञानिक धारणाएँ हैं जो ऐतिहासिक विकास के प्रतिकूल सिद्ध होती हैं।

अब बिहार की राजभाषा हिन्दी है। फिल्म, साहित्य, अखबारों आदि के जरिये हिन्दी का प्रचार और भी बढ़ रहा है। राजनीतिक आन्दोलन मिथिला का अलगाव खत्म करके हिन्दी के माध्यम से उसे बिहार के सार्वजनिक जीवन में खींच रहा है। इसका यह मतलब नहीं कि मैथिली को कोई उपयोगिता नहीं है। किसानों का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा करने के लिए उस की आवश्यकता आज भी है और बहुत दिनों तक आगे भी रहेगी। लेकिन इस काम में हिन्दी भी हाथ बटा रही है, आगे और भी बटायेगी। हिन्दी के मुकाबले में मैथिली का महत्व अब बोली का है और मिथिला में सामन्ती अवशेष खत्म होने पर, वहाँ उद्योग-धंधों की उन्नति होने पर, मैथिली का

बोली मात्र रहना और भी स्पष्ट हो जायगा —मैथिलों की जातीय भाषा हिंदी और भी दृढ़ता से प्रतिष्ठित होगी ।

इसलिए मिथिला के अलागाव का नारा छोड़कर हमें समूचे हिन्दी भाषी प्रदेश को एक करने की कोशिश करनी चाहिए । मिथिला की उन्नति का मार्ग शेष हिन्द प्रदेश से घुल मिलकर आगे बढ़ने में ही है । साहित्य और समाज का इतिहास इसी दिशा की ओर संकेत करता है ।

संस्कृति और जातीयता

संस्कृति एक व्यापक शब्द है। उसके अन्तर्गत मनुष्य का आचरण, उस का भावजगत्, विचारधारा, साहित्य, कला, विज्ञान—ये सभी आ जाते हैं। ब्रह्म की तरह संस्कृति व्यक्त और अव्यक्त दोनों है। वाल्मीकि और व्यास के महाकाव्य, अजन्ता और एल्लोरा का शिल्प, स्थापत्य और चित्रकारी, त्याग राय और तानसेन का संगीत, ये सब संस्कृति के अंग हैं और वह उल्लास जो दीपावली के प्रकाश में फूट पड़ता है, वह शूरता जो १८५७ और १९४६ के विद्रोहों में प्रकट हुई थी, शान्ति और न्याय का वह प्रेम जो आज कोटि-कोटि भारतीय जनता को सोवियत और चीन के साथ विश्व-शान्ति की रक्षा के लिए आगे बढ़ा रहा है, यह सब भी संस्कृति का अंग है।

अपने सुदीर्घ जीवन में मनुष्य ने ऐसी सांस्कृतिक निधि अर्जित की है जो मानव-मात्र की संपत्ति है। बच्चों से प्यार, नारी जाति का सम्मान, मनुष्य-मात्र की समानता का भाव आदि आज सम्पूर्ण मानव-संस्कृति की थाती हैं। इसके साथ पच्छिम और पूर्व की, यूरोप और एशिया की, भारत और ब्रिटेन की अपनी सांस्कृतिक विशेषताएं हैं। अपनी प्राचीनता पर गर्व, पूर्व और एशिया की एक सांस्कृतिक विशेषता है। साहित्य में यथार्थवाद का विकास ब्रिटेन की एक सांस्कृतिक विशेषता है। अनेक विभिन्नताओं में एकता की अनुभूति यह भारत की—सांस्कृतिक विशेषता प्रसिद्ध है। देशों और महा-द्वीपों के साथ वर्गों की अपनी संस्कृति भी होती है। विलासप्रियता, निष्क्रियता, अलंकार-प्रेम, साहित्य में चमत्कारवाद—हर देश में सामन्तवर्ग की अपनी सांस्कृतिक विशेषताएं रही हैं।

मनुष्य का सांस्कृतिक विकास उसके सामाजिक जीवन से ही सम्भव हुआ है। मानव-संस्कृति मानव-जीवन से भिन्न नहीं है। मनुष्य ने अपना मानवत्व

सामाजिक जीवन द्वारा ही प्राप्त किया है। यह सामाजिक जीवन सदा एक रूप में संगठित नहीं हुआ। भारत में जिस व्यवस्था से लोग बहुत दिनों से परिचित हैं, वह वर्ण-व्यवस्था है। इसे धार्मिक ग्रंथों में ईश्वरकृत भी माना गया है। लेकिन आज भी देश में ऐसे अनेक जन रहते हैं जो पहाड़ों और जंगलों में कबीलों का संगठन बना कर जीवन बिताते हैं और जिनमें वर्ण व्यवस्था नहीं है। समाजशास्त्र के अनुसार कबीलों का यह संगठन, विकास क्रम में वर्ण-व्यवस्था से पहले आता है। हम लोग समझते हैं कि वर्ण-व्यवस्था हमारे देश की विशेषता है। वास्तव में हर देश का सामन्ती समाज मोटे तौर से चार वर्णों जैसे चार वर्गों में बँटा हुआ मिलता है। मिसाल के लिए चौसर के समय और उसके पहले का इंग्लैण्ड पुरोहितों (क्लर्ग), भूमि के स्वामियों (नाइट), सौदागरों (मर्चेंट) और जमीन जोतनेवाले किसानों (सर्फ) में बँटा हुआ था व्यापार और उद्योग-धन्धों की बढ़ती के साथ यह व्यवस्था हर जगह टूटी है। जो लोग इस व्यवस्था से पीड़ित थे, उन्होंने इसके टूटने में सहायता की, जो प्राचीनता-प्रेमी और रूढ़िवादी थे, उन्होंने इस विनाश को कलियुग का अनाचार कहा। आज भी अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो भारत की विपत्तियों का मूल कारण यह मानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था से जनता की आस्था उठ गयी है। वे बड़ा प्रयत्न करते हैं कि पुरानी व्यवस्था फिर लौट आये, जितनी बची है, उतनी ही कायम रहे लेकिन जैसे-जैसे जमीन से सामन्ती प्रभुत्व उठता जाता है, वैसे-वैसे भूपाल और उसके साथी पुरोहित पर से वह पुरानी श्रद्धा भी उठती जाती है और उसकी जगह नये वर्ग-सम्बन्ध कायम होते हैं। यह क्रम भारत में जातियों (नैशनैलिटी) के संगठन और उनके दृढ़ होने का क्रम भी है।

भारत में वर्ण-व्यवस्था का विरोध और उस व्यवस्था के टूटने पर आपत्ति-ये दोनों बातें बहुत पुरानी हैं। कबीर के समय से ही ये दोनों बातें साहित्य में खूब उभरकर आयी हैं। हिन्दी, बंगला, मराठी, पंजाबी, काश्मीरी आदि भाषाओं में भक्ति-आन्दोलन मनुष्यमात्र की समानता घोषित करने वाला एक व्यापक और शक्तिशाली आन्दोलन था। यह आन्दोलन वर्णों और मतमतान्तरों में बँटे हुए सामन्ती समाज की व्यवस्था के विरुद्ध था, और इस व्यवस्था

के कमजोर होने से वह उत्पन्न हुआ था। गरीब किसानों, कारीगरों, सौदागरों आदि की सक्रिय सहानुभूति से उसका प्रसार हुआ था। प्राचीन रूढ़िवाद जहाँ धार्मिक कर्मकांड को महत्व देता था, वहाँ यह आन्दोलन प्रेम को भक्ति और मुक्ति का आधार मानता था। कबीर, तुलसी, सूर और जायसी में सामान्य भाव-धारा इस प्रेम की ही है। प्राचीन रूढ़िवाद जहाँ म्लेच्छ और काफिर, द्विज और शूद्र के भेद को महत्व देता था, वहाँ भक्ति-आन्दोलन का मूल स्वर था—‘जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि का भजै सो हरि का होई।’ भक्ति-आन्दोलन श्रद्धा के मानदंड बदल रहा था, भूमि के स्वामी होने से तुम श्रद्धास्पद नहीं हो, श्रद्धा की कसौटी है प्रेम ! उस कसौटी पर साधारण किसान बड़े भूपतियों से श्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है।

भूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर जरे मद-अंबु चुचाते ।

तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौन के गौनहु ते बढि जाते ॥

भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति बाहर भूप खड़े न समाते ।

ऐसे भये तो कहा तुलसी जु पै जानकीनाथ के रंग न राते ॥

इसी तरह ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से या पुरोहिताई करने से तुम श्रद्धास्पद नहीं हो। असली कसौटी है प्रेम की, जहाँ शबरी, निषाद और ‘जायो कुलमंगन’ तुमसे श्रेष्ठ सिद्ध हो सकते हैं।

जप, जोग, विराग, महा मखसाधन, दान, दया, दम कोटि करै।

मुनि सिद्ध, सुरेस, गनेस, महेस से सेवत जन्म अनेक मरै।

निगमागम ज्ञान पुरान पढ़े, तपसानल में जुग पुंज जरै।

मन सौं पन रोपि कहैं तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरै ?

इस तरह श्रद्धा की कसौटी बदल कर भक्ति-आन्दोलन ने सामन्तों और पुरोहितों के प्रभुत्व को भारी धक्का लगाया।

सामन्ती व्यवस्था में जहाँ नारी को विलास और केलि का साधन बना दिया गया—जिसका प्रतिबिम्ब दरबारी कवियों का नायिका-भेद है—और रूढ़िवाद ने नारी को बहुपत्नी प्रेमी नर की दासी बना दिया था, वहाँ सूर, जायसी, मीरा और तुलसी ने उसके नारीत्व की फिर प्रतिष्ठा की, उसकी मानव-सुलभ समानता और व्यक्तित्व की घोषणा की। रामराज्य में—‘एक

नारि व्रत रत सब भारी । ते मन बच क्रम पति हितकारी ।' पतिव्रत पत्नीव्रत के साथ ही चज़ता है ।

सामन्ती व्यवस्था ने मनुष्य की सौन्दर्य-वृत्तियों को, उसके अनेक मानव मूल्यों को जहाँ दबा रखा था, भक्ति-आन्दोलन ने इन सब को निखारा और विकसित किया ।

सामन्ती व्यवस्था ने जहाँ मनुष्य को निष्क्रियता और भाग्यवाद का पाठ पढ़ाया था, भक्ति-आन्दोलन ने राम और कृष्ण के चरित्रों द्वारा जनता को अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करना सिखाया ।

भक्ति-आन्दोलन से पहले जहाँ साहित्य रचने का काम मुख्यतः ब्राह्मणों ने किया था, वहाँ भक्ति-साहित्य में जुलाहे, अछूत, मुसलमान, ब्राह्मण अब्राह्मण, नर-नारी सभी ने भाग लिया और वह वास्तव में एक लोकप्रिय जन-साहित्य बन गया । संस्कृति की ठेकेदारी किसी वर्ण-विशेष या धर्म-विशेष के हाथ में न रह गयी ।

इन कारणों से भक्ति-आन्दोलन को मूलतः सामन्त-विरोधी आन्दोलन कहना उचित है । वह सामन्ती व्यवस्था के विरोध में उठ खड़ा हुआ था, उस व्यवस्था के कमजोर होने से पैदा हुआ था । यह आन्दोलन हमारी जातीयता के अभ्युदयकाल का प्रगतिशील आन्दोलन था ।

आज अपनी जातीय संस्कृति का विकास करने के लिए उसके महत्व को समझना आवश्यक है । वह इस बात का प्रमाण है कि उत्तर भारत में सामन्ती व्यवस्था नष्ट हो रही थी और साहित्य इस कार्य में सहायक था ।

सामन्ती व्यवस्था के हास के साथ भारत की आधुनिक भाषाओं का उत्थान जुड़ा हुआ है । ये भाषाएँ सामन्ती व्यवस्था के हास के कारण पैदा नहीं हुईं, भाषाएँ पहले से थीं, उन्हें अब अपने प्रसार और विकास का अवसर मिला । संस्कृत जहाँ धर्म और साहित्य की भाषा थी, फारसी जहाँ राज-भाषा थी, वहाँ उत्तर भारत के संत कवि बोलचाल की भाषाओं को माध्यम बना कर आगे बढ़े । संस्कृति या फारसी की जगह अनेक भाषाओं के विकास से भारत की एकता टूटी नहीं, वह और दृढ़ हुई, क्योंकि जनता की शिक्षा और उसका सांस्कृतिक विकास उसकी भाषा द्वारा ही सम्भव है । सुशिक्षित

श्रीर सुसंस्कृत जनता ही एकता का सब से दृढ़ आधार है। इसीलिए जो लोग अंग्रेज़ी या संस्कृत द्वारा भारत की एकता बनाये रखना चाहते हैं, वे जनता की शक्ति नहीं पहचानते। जो लोग बंगाल या महाराष्ट्र में बंगला या मराठी के बदले हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं, वे भारत की आधुनिक भाषाओं के विकास का महत्व नहीं समझते, वे इन भाषाओं द्वारा जनता के शिक्षण और सांस्कृतिक विकास का मूल्य नहीं पहचानते। जिस समय संस्कृत द्वारा एकता को रक्षा करने वाले पराजित हो चुके थे, उस समय बोलचाल की भाषाओं द्वारा ही भक्तकवियों ने जनता के जातीय आत्मसम्मान को जगाया था और उसकी रक्षा की थी। इस ऐतिहासिक क्रम-विकास को रोकना आज किसी की सामर्थ्य में नहीं है।

भाषा और साहित्य का इतिहास यह बतलाता है कि १६वीं-१७वीं सदी में ब्रज, खड़ीबोली, अवधी आदि के क्षेत्र अपना अलगाव दूर करके एक दूसरे के निकट आ रहे थे। यही कारण है कि सूर के पद केवल ब्रज की सम्पत्ति न थे, वे ब्रज के बाहर भी गाये जाते थे। संगीत और कविता के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग सर्वमान्य-सा हो गया था। इससे पहले विभिन्न जनपदों के लेखक संस्कृत में लिखते थे, तब से अब में अंतर यह था कि संस्कृत के छन्द गौँवों के किसान वैसे न गाते थे जैसे अब वे सूर के पद गाते थे। ब्रजभाषा का साहित्य जन साधारण में प्रचलित हो रहा था और इस तरह विभिन्न जनपदों के लोगों को एक दूसरे के निकट ला रहा था। इसी तरह अवधी की रचनाएँ अवध तक सीमित न रहीं, विशेषरूप से रामचरित-मानस का प्रचार अवध से बाहर दूर-दूर तक हुआ। इस तरह यह महान् ग्रंथ जनपदों का अलगाव दूर करने और उन्हें एक दूसरे के निकट लाने का बहुत बड़ा साधन बना। तुलसीदास ने ब्रज और अवधी दोनों में रचनाएँ कीं और यह बात अपने आप इस ऐतिहासिक सत्य की ओर संकेत करती है कि ब्रज और अवध जैसे जनपदों की जनता एक दूसरे के निकट आ रही थी। इस समय की काव्य-भाषा में एक से अधिक बोलियों के शब्द आना, यहाँ तक कि अनेक बोलियों के व्याकरण-रूपों का आना भी असाधारण बात नहीं है। इसका कारण यही है कि जनपदीय बोलियों का अलगाव खत्म हो रहा था

और वे एक दूसरे को प्रभावित कर रही थीं। आगे चलकर इन जनपदों की एक सामान्य जातीय भाषा न तो ब्रज हुई, न अवधी, जातीय भाषा के रूप में विकसित हुई खड़ीबोली। सूर और तुलसी जैसे समर्थ कवियों की सहायता पाकर भी ब्रज या अवधी यहाँ की जातीय भाषा क्यों न बनी और खड़ीबोली क्यों बनी, इसके ऐतिहासिक कारण हैं। ब्रज के बाहर ब्रजभाषा का प्रसार केवल साहित्यिक भाषा के रूप में हुआ, बोलचाल की भाषा के रूप में नहीं। यही बात अवधी के साथ भी हुई। बोलचाल की भाषा के रूप में केवल खड़ी बोली अपने क्षेत्र से बाहर फैली। तभी तो १६वीं सदी में गद्य, शिक्षा और मासिक पत्रों आदि की भाषा खड़ी बोली स्वीकृत हो गयी और ब्रज, अवधी आदि को लेकर कोई संघर्ष न हुआ। काव्य में ब्रजभाषा को बनाये रखने के लिए संघर्ष किया गया, वह असफल रहा। कारण यह कि खड़ीबोली हमारी जातीय भाषा के रूप में विकसित हो रही थी और काव्य में उसका उपयोग आगे-पीछे होना ही था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और रामचन्द्र शुक्ल ने खड़ीबोली के प्रसार का संबंध पच्छिम से पूर्व की ओर आने वाली व्यापारी जातियों से जोड़ा था। यह स्थापना सही है। आगरा, प्रयाग, काशी आदि में न जाने कितने व्यापारी पछाँह से आकर बसे थे। स्वयं दिल्ली और आगरा व्यापार के बहुत बड़े केन्द्र थे। ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे' से पता चलता है कि यूरोप के व्यापारी अपनी सुविधा के लिए खड़ी बोली सीखते थे। व्यापार के प्रसार के साथ भारत के भीतर खड़ी बोली का महत्व बढ़ा। सरदेसाई के अनुसार इटालियन यात्री मनुचची और शिवाजी की बातचीत खड़ी बोली में हुई थी। शेरशाह के समय से ही हिन्दीभाषी क्षेत्र में व्यापार का प्रसार आरम्भ हो गया था। अकबर ने एक तरह के सिक्के चला कर, यातायात के साधनों को सुरक्षित करके व्यापार की उन्नति में सहायता की। १६ वीं सदी में व्यापार और औद्योगिक उन्नति का सबसे बड़ा प्रमाण बड़े-बड़े शहरों का निर्माण और विकास था। दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, पटना आदि व्यापार के बड़े-बड़े केन्द्र थे, इन्हीं केन्द्रों से खड़ी बोली का प्रसार भी हुआ। उद्योग-धन्धों का मुख्य आधार दस्तकारी थी, लेकिन इस दस्तकारी

का उद्योग राजाओं और नवाबों की विलासिता की चीजें तैयार करना ही न था, न यह दस्तकारी हर गाँव में सीमित रह कर उसी की जरूरतें पूरा करने के लिए थी। बनारस, लखनऊ और आगरा दस्तकारों के केन्द्र थे और यहाँ की बनी हुई चीजें विदेश में इतनी बिकती थीं कि वहाँ के अपने उत्पादन के लिए खतरा पैदा हो गया था। उद्योग-धंधों का बढ़ना, व्यापार की मंडियों के रूप में बड़े-बड़े शहरों का पनपना सामन्ती अलगाव कम करता था और जनता को एक सूत्र में बाँधता था। यह हिन्दी-भाषी जाति के निर्माण का सिलसिला था। यह सिलसिला सामन्ती ढाँचे के अन्दर चल रहा था। यह ढाँचा कमजोर था और दिन-पर-दिन अपने भीतर उभरती ताकतों से कमजोर होता जा रहा था लेकिन वह चरमरा कर बैठ न गया था, उसका नाश न हुआ था कि उसकी जगह नया पूँजीवादी ढाँचा आकर जम जाता। व्यापार की मंडियाँ मुख्यतः गंगा-यमुना के किनारे कायम हुई, इसलिए पूर्वी भोजपुरी और मैथिल प्रदेश व्यापारी सम्बन्धों की लपेट से प्रायः बचे रहे। यातायात के साधन हर जगह एकसे विकसित न हुए थे, इसलिए मध्य भारत इस विकास से बहुत कुछ अलग रहा। बीसवीं सदी में नये उद्योग-धन्धों के कायम होने के साथ विकास का यह सिलसिला और बढ़ा और मध्य भारत तथा मिथिला, भोजपुर आदि एक सामान्य जातीय जीवन की धारा के और निकट आये। यह विकास औपनिवेशिक भारत में हो रहा था, जहाँ अंग्रेज़ शासक वर्ग की नीति यह थी कि औद्योगिक उन्नति रोक कर भारत को अंग्रेज़ी माल की खपत के लिए बाज़ार बनाया जाय और यहाँ के सामन्ती अवशेषों को अपना सहायक बना कर उनकी रक्षा की जाय। इसलिए यह औद्योगिक विकास बहुत ही सीमित था और उसके साथ हमारे जातीय निर्माण और गठन का काम भी अधूरा रहा।

हमारे जातीय निर्माण की एक विशेषता यह थी कि यहाँ सैकड़ों साल तक फारसी राज-भाषा रह चुकी थी। इसका फल यह हुआ कि उच्च वर्गों में फारसी पढ़ी-पढ़ाई जाती थी और सुसंस्कृत शब्दावली वह समझी जाती थी जिसमें फारसी के शब्द अधिक हों। इसलिए एक ओर नज़ीर और मीर जैसे सरल उर्दू लिखने वाले कवि हुए, दूसरी ओर फारसी-गर्भित उर्दू लिखने

वालों की कमी न थी। अंग्रेजों ने इस भाषा-भेद को—जिसमें लिपि-भेद भी शामिल था—और आगे बढ़ाया और विशेष रूप से जब सन् १८५७ में उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को अपने विरुद्ध मिलकर लड़ते देखा, तब उन्होंने यह भेद-भाव बढ़ाने में अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। कचहरी और पुलिस के द्वारा उन्होंने वह अरबी-प्रधान भाषा चलायी जो उनके जातीय उत्पीड़न की नीति का अङ्ग बन गयी। इधर अनेक जनपदों में कुछ लोगों ने अलगाव का नारा दिया। जातीय विकास की धारा न समझ कर इन्होंने बोलियों को भाषा का दर्जा दिया, इन बोलियों के क्षेत्रों को जातीय प्रदेश माना, यहाँ तक कि हिन्दी-भाषी प्रदेश को तेरह क्षेत्रों में बाँटने की योजना भी सामने रखी। हिन्दी-भाषी क्षेत्र में वर्ण-व्यवस्था का अब भी जोर है। यहाँ के शिक्षा केन्द्रों में कौन ब्राह्मण है, कौन कायस्थ है, यह प्रश्न बड़े महत्व का है। यही नहीं, बहुतों में अहीर, जाट, गूजर, राजपूत आदि के प्रति वफादारी पहले है, समूची हिन्दी-भाषी जाति के लिए बाद को। इन्हीं कारणों से हिन्दी-भाषी क्षेत्र में जिस जातीय चेतना का विकास होना चाहिए था, वह नहीं हुआ।

जातियों का विकास और निर्माण सामन्ती व्यवस्था के हास और पतन से ही सम्भव होता है। इसलिए जातीय चेतना का विकास भी सामन्ती विचारधारा का खंडन करता है, अपना प्रगतिशील मूल्य रखता है। अंग्रेज शासकों ने यहाँ का औद्योगिक विकास रोका, यहाँ के सामन्ती अवशेषों की रक्षा की, नवाबों, राजाओं और ताल्लुकदारों की रियासतें बनाये रख कर जातीय एकता कायम होने में बाधा डाली। उदाहरण के लिए निजाम की रियासत के कारण तेलगू-भाषी जाति एक न हो पायी। कन्नड़ और मराठी-भाषी जातियाँ भी इसी तरह एक न हो पायीं। एक ही जाति को उन्होंने कई प्रान्तों में बाँट दिया जिसकी सबसे बड़ी मिसाल हिन्दी-भाषी प्रदेश है। बोलियों का ध्यान भी रखा जाय तो भोजपुरी का आधा क्षेत्र बिहार में है, आधा उत्तर प्रदेश में। बिहार को उन्होंने कभी बंगाल के साथ रखा, कभी बंगाल का थोड़ा सा हिस्सा बिहार में मिला दिया। बंगाल का विभाजन करने की कोशिश की, जो पहले असफल रही, फिर सन् ४७ में सफल हुई।

कांग्रेस ने अपनी सूबा-कमेटियाँ मुख्य भाषाओं को ध्यान में रख कर बनायीं, अपवाद केवल हिन्दीभाषी प्रदेश था। मुख्य भाषाओं के हिसाब से प्रान्तों का नया संगठन करने की माँग उचित थी, इस माँग के पूरा होने से भारत की प्रमुख जातियों का ऐतिहासिक विकास-क्रम आगे बढ़ता था। इस विकास क्रम में सामन्ती अवशेषों के सिवा दूसरी बाधा थी—साम्राज्यवाद, जो अपनी कूटनीति से जातियों को संगठित न होने देता था। इसलिए जातीय गठन और जातीय चेतना के विकास का एक साम्राज्य-विरोधी मूल्य भी है। जातीय विकास-क्रम को पूरा करना देश-भक्ति का ही कार्य माना जायगा।

जातीय चेतना का सही मूल्यांकन करके ही भारतीय एकता दृढ़ की जा सकती है। भारतीय एकता जनता की एकता के सिवा, विभिन्न वर्गों की एकता के सिवा, विभिन्न भाषाएँ बोलने वाली जातियों की एकता भी है। विभिन्न जातियों की परस्पर एकता उनके उचित अधिकार मानकर ही की जा सकती है। तेलगू-भाषी जनता ने जातीय गठन का सवाल बहुत तीखे ढंग से देश के सामने रखा है। आन्ध्र राज्य के निर्माण के लिए पोत्ती श्री रामुलु जैसा अहिंसावादी शहीद हो गया। इससे अनुमान किया जा सकता है कि जातीय भावना कितनी दृढ़ है। कांग्रेसी नेताओं को बाध्य होकर राज्य पुनर्गठन समिति बनानी पड़ी। इस समिति ने केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक आदि राज्य बनाने का अनुमोदन किया। महाराष्ट्र और आन्ध्र के निर्माण में जो बाधाएँ थीं, उनसे फिर असन्तोष बढ़ा और कांग्रेसी नेतृत्व ने विशाल आंध्र के तुरत बनने की माँग स्वीकार की। महाराष्ट्र-गुजरात का आन्दोलन अभी चल रहा है।

राज्य पुनर्गठन समिति मध्यभारत, उत्तर प्रदेश आदि की एक जातीय भाषा हिन्दी मानती है, यह संतोष की बात है। उसने यह स्थापना स्वीकार नहीं की कि यहाँ छत्तीसगढ़ी, बघेलखंडी, अवधी, ब्रज आदि भाषाएँ बोलने वाली जातियाँ रहती हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के दस्तावेजों में उसे से इस विशाल प्रदेश को 'हिन्दी-भाषी' की संज्ञा दी जाती रही है और यह संज्ञा उसके कार्यक्रम में भी प्रयुक्त हुई है। आशा है, राज्य पुनर्गठन समिति और कम्युनिस्ट पार्टी जैसी दो भिन्न संस्थाओं की इस सामान्य 'हिन्दी-भाषी' संज्ञा पर

वे मित्र विचार करेंगे जो अवधी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी आदि को स्वतंत्र भाषाएँ मानते रहे हैं ।

यहाँ भाषा और बोली के सम्बन्ध पर दो शब्द कह देना आवश्यक है । किसी भी देश में जातीय भाषा के विकास के साथ बोलियाँ खत्म नहीं हो जाती । ब्रिटेन, फ्रांस जैसे उद्योग-प्रधान देशों तक में वेल्श, प्रोवेंसाल आदि बोलियाँ कायम हैं जो व्याकरण की दृष्टि से भी जातीय भाषा — अंग्रेजी या फ्रांसीसी—से भिन्न हैं । हमारे देश में ही तेलंगाना की तेलगू और विजय-वाड़ा की तेलगू, पूर्वी बंगला और कलकत्ते की बंगला में अन्तर है । इसका अर्थ यह नहीं कि पूर्वी बंगाल या तेलंगाना के लोगों की जातीय भाषा बंगला या तेलगू नहीं है । इसी तरह हिन्दी की अनेक बोलियों का अस्तित्व यह साबित नहीं करता कि हिन्दी हमारी जातीय भाषा नहीं है । जिन लोगों की जातीय भाषा हिन्दी है, वे लोग चीनी जनता के बाद संसार की सबसे बड़ी जाति हैं । भारत की एक तिहाई जनता की भाषा हिन्दी है । इसलिए हिन्दी-भाषी जनता का अलगाव भारत की तिहाई जनता का अलगाव है । उसकी संगठित शक्ति एक तिहाई भारत की संगठित शक्ति होगी । हिन्दी-भाषी जनता का संगठन और उसकी जातीय एकता सारे देश की जनता के संगठन और एकता के लिए आवश्यक है ।

फिर भी लोग इस एकता से डरते हैं । तमाम हिन्दी-भाषी जनता को एक राज्य में लाने के बदले वे उत्तर प्रदेश को भी दो हिस्सों में बाँटने की बात करते हैं । विभाजन के द्वारा संतुलन कायम रखना साम्राज्यवादियों की नीति रही है, देशभक्तों की नहीं । उत्तर प्रदेश का विभाजन किसी भी सैद्धान्तिक कसौटी पर सही नहीं उतरता । उसका आधार केवल भय या ईर्ष्या हो सकती है । इस भय के कारण हैं । भारत के संविधान में जातियों की समानता और उनके अधिकारों की रक्षा का विधान नहीं है । जनतन्त्र का अर्थ हर व्यक्ति को समान अधिकार देना ही नहीं है, उसका अर्थ प्रत्येक जाति को समान अधिकार देना भी है । जब तक भारत में लोकसभा के साथ एक जातीय परिषद् नहीं कायम होती, जिसमें हर जाति का समान प्रतिनिधित्व हो और जो लोक सभा के देशव्यापी कार्यों पर नियन्त्रण रख सके, तब तक

छोटी-बड़ी जातियों में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष बना ही रहेगा। यह ईर्ष्या-द्वेष—भाषावार राज्य कायम हो जाने पर भी—भारतीय एकता में बाधक होगा। ईर्ष्या-द्वेष को दूर करने का उपाय जातियों की समानता और उनके अधिकारों की रक्षा है, न कि बड़ी जातियों को तोड़ कर छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट देना।

शासन की सुविधा के लिए छोटे राज्य बनाना कोई अर्थ नहीं रखता। हिन्दी-भाषियों का एक राज्य बहुत बड़ा हो जायगा—या उत्तर प्रदेश ही बहुत बड़ा है—तर्कसंगत बात नहीं है। भारत की केन्द्रीय सरकार ने सारे भारत पर शासन करने के लिए न जाने कितने अधिकार ले रखे हैं, उनमें कुछ कमी हो जाय तो जातियों का भला ही होगा। शासनतन्त्र ऐसा होना चाहिए जिससे जातीय विकास में सहायता मिले, न कि उसमें बाधा पड़े। जनता का हित बड़े-बड़े राज्य कायम करने में है जहाँ वह सुविधापूर्वक सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति कर सके। इसीलिए यह आवश्यक नहीं है कि हर भाषा के लिए एक राज्य का निर्माण कर ही दिया जाय। सोवियत संघ में ६० से ऊपर भाषाएँ हैं, लेकिन वहाँ १६ राज्य ही स्थापित किये गये हैं। जिन भाषाओं के बोलने वाले बहुत बड़ी संख्या में नहीं हैं, उनके जातीय विकास के लिए मुख्य राज्यों के अन्तर्गत स्वायत्त प्रदेश कायम किये गये हैं।

‘जातियों के आत्मनिर्णय का अधिकार’ नाम की पुस्तक में लेनिन ने बड़े राज्यों का लाभ बतलाते हुए लिखा है, “जनता अपने दैनिक अनुभव से जानती है कि भौगोलिक और आर्थिक सम्बन्धों का मूल्य क्या है और एक बड़े बाजार और एक बड़े राज्य के लाभ क्या हैं। इसलिए लोग अलग होना तभी पसन्द करेंगे, जब जातीय उत्पीड़न और जातीय संघर्ष से सम्मिलित जीवन एकदम असम्भव हो गया हो और सभी तरह के आर्थिक आदान-प्रदान में अड़चन पड़ती हो।” लेनिन ने यह बात उन बड़े राज्यों के लिए कही थी, जिनमें विभिन्न जातियों के लोग रहते थे। हिन्दी-भाषी जनता का एक बड़ा राज्य कायम करने में तो विभिन्न जातियों का नहीं, एक ही जाति का सवाल है। वर्तमान काल में आर्थिक विकास की योजनाएँ बनाने और उन्हें अमल में लाने के लिए हिन्दी-भाषी प्रदेश की एकता और भी आवश्यक है।

बिहार का लोहा और कोयला, उत्तर-प्रदेश की मिलें, मध्यभारत के पठार में रुई का उत्पादन और इन सबका योजना-बद्ध उपयोग हिन्दी प्रदेश को उन्नत और समृद्ध बना सकता है।

उक़्रैनी, बेलोरूसी, ताजिक आदि जातियों पर ज़ारशाही के अत्याचारों का उल्लेख करते हुए १९२१ में स्तालिन ने रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की दसवीं कांग्रेस में कहा था, “इन लोगों के प्रति ज़ारशाही की नीति—ज़मींदारों और पूँजीपतियों की नीति—यह थी कि उनमें राज्यसत्ता के हर जीवाणु को मिटा दिया जाय, उनकी संस्कृति की बाढ़ मार दी जाय, उन्हें अज्ञान की दशा में रखा जाय और अन्त में यह कि जहाँ तक हो सके, उनका रूसीकरण किया जाय।” भाषा और संस्कृति को दबाने के साथ जातीय उत्पीड़न का एक तरीका राज्यसत्ता के जीवाणुओं का नाश भी है। ज़ारशाही ने जिन जीवाणुओं का नाश किया था, वे समाजवादी व्यवस्था में पुष्ट हुए और उक़्रैनी, बेलोरूसी, ताजिक आदि जातियों ने अपने प्रजातंत्र कायम किये, जिनके संघ का नाम सोवियत संघ है। जातीय समस्या के बारे में पार्टी के कर्त्तव्य बतलाते हुए स्तालिन ने उसी समय कहा था : “रूसी जातियों की सामान्य विशेषता यह है कि राज्यों के रूप में उनका विकास केन्द्रीय रूस से पीछे है। हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए कि हम इन जातियों की—उनके सर्वहारा और मेहनत करने वाले लोगों की—भरसक मदद करें कि वे अपनी भाषा के माध्यम से अपना, सोवियत राज्यसत्ता का, जीवन विकसित कर सकें।”

जातियों की राज्यसत्ता की प्रतिष्ठा, उनकी भाषा में उनके राज्यगत जीवन का विकास, समाजवाद का उद्देश्य है। इसके विपरीत राज्यसत्ता के जीवाणुओं का नाश, जातियों का विभाजन और उनकी भाषाओं का दमन साम्राज्यवादियों, पूँजीपतियों और सामन्तों की नीति है। भारत की अन्य बड़ी जातियों के समान देश की सबसे बड़ी जाति, हिन्दी-भाषी जाति, का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह एक राज्य के अन्तर्गत संगठित होकर अपना औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास कर सके।

इस देश में अनेक भाषाएँ हैं, अनेक जातियाँ हैं, इन जातियों की अपनी-अपनी संस्कृति है। इन सभी जातियों की संस्कृतियों के सामान्य तत्वों का,

उनके समुच्चय का नाम भारतीय संस्कृति है। भारत की जातियों से भिन्न भारतीय संस्कृति की सत्ता कहीं नहीं है। वर्गों की, जनसाधारण की संस्कृति की कुछ जातीय विशेषताएँ होती हैं। सामन्त वर्ग इंग्लैंड में भी था, यहाँ भी रहा है लेकिन नायिका भेद का प्रसार यहाँ की सामन्ती संस्कृति की जातीय विशेषता है। सामन्तकाल में जनसाहित्य यहाँ भी रचा गया है, यूरोप में भी, लेकिन सन्त साहित्य की कुछ अपनी जातीय विशेषताएँ हैं। आधुनिक युग में साहित्य शगुन ने भी रचा है, वल्लथोल और भारती ने भी लेकिन बहुत सी बातों में इनके समान होते हुए भी प्रेमचन्द की अपनी जातीय विशेषताएँ हैं। इसलिए संस्कृति की जातीय विशेषताओं के विकास के लिए जातीय गठन जरूरी है।

सामाजिक संगठन के बाहर न संस्कृति का अस्तित्व है, न भाषा का। जब हिन्दी-भाषी जाति न थी, तब जातीय भाषा के रूप में हिन्दी भी न थी। वह खड़ी बोली के रूप में एक जनपद तक सीमित थी और वहाँ भी उसका एक टुकसाली रूप न था वरन् मिलते-जुलते अनेक रूप थे। खड़ी बोली का प्रसार और निखार हिन्दी-भाषी जाति के गठन के साथ संभव हुआ है। यह प्रसार और निखार का काम अभी पूरा नहीं हुआ और तब तक पूरा न होगा, जब तक हमारे जातीय विकास और जातीय गठन का काम पूरा न होगा। इसके लिए जहाँ औद्योगिक विकास आवश्यक है, खेती की उन्नति आवश्यक है, शिक्षा का प्रसार आवश्यक है, वहाँ इन कार्यों का संगठन करने के लिए और समस्त जातीय जीवन का संचालन करने के लिए जातीय राज्यसत्ता भी आवश्यक है। जातीय-भाषा हिन्दी की पूर्ण समृद्धि के लिए जातीय गठन आवश्यक है।

जातीय आन्दोलनों में हर तरह के लोग शामिल होते हैं। इसलिए इन आन्दोलनों का दिग्भ्रान्त होना अचरज की बात नहीं। हम सबसे बड़े हैं, हमारे साहित्य के आग्रे सब तुच्छ हैं, इस तरह के भाव अक्सर देखने-सुनने को मिलते हैं। इसी तरह सीमाओं को लेकर भगड़े खड़े करना, एकता और मेलजोल के बदले ईर्ष्या-द्वेष का प्रचार आदि भी हैं। इस तरह की दुर्भावनाओं से हम तभी बच सकते हैं जब यह याद रखें कि इस देश में हर जाति दूसरी

को प्रभावित करती है, हर जाति का विकास दूसरी जातियों की सहायता और विकास पर निर्भर है। जातीय गठन के साथ अन्तर्जातीय मैत्री पर जोर देना भी आवश्यक है।

हिन्दी-भाषी प्रदेश में जातीय आन्दोलन पिछड़ा हुआ है। उत्तर प्रदेश के विभाजन की समस्या, हिन्दी बनाम भोजपुरी-मैथिली आदि की समस्या, हिन्दी-उर्दू की समस्या आदि हमारे जातीय जीवन के असंगठित होने के चिह्न हैं। जितना ही प्रगतिशील विचारक इस जातीय आन्दोलन को अपने आप बढ़ने के लिए छोड़ देंगे, उतना ही इस तरह की समस्याएँ और भी उलझती जायँगी और नयी समस्याएँ खड़ी होती जायँगी। इस तथ्य पर जोर देना आवश्यक है कि हिन्दी-भाषी जनता एक विशाल जाति है, उसके ऐतिहासिक विकास का सिलसिला कई सदियों से चल रहा है, हमारी भाषा और संस्कृति की उन्नति के लिए इस जाति का एक राज्य में संगठित होना आवश्यक है, इसका विशाल आकार शासन के लिए असुविधाजनक होने के बदले योजनाबद्ध सामाजिक विकास के लिए हितकर है, यह जातीय गठन न केवल हिन्दी-भाषियों के लिए वरन् सारे देश के लिए हितकर है। आशा है, हिंदी लेखक और हिन्दी प्रेमी पाठक इस समस्या की ओर उदासीन न रहेंगे।

जो लोग यह मानते हैं कि १६ वीं सदी के आरम्भ से पहले उत्तर भारत के समाज में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ, उनसे निवेदन है कि वे १६ वीं-१७ वीं सदी में नये शहरों के उत्थान पर ध्यान दें, इस उत्थान का कारण बतायें, भारत के आर्थिक जीवन में इन शहरों की भूमिका पर प्रकाश डालें, उस समय के ब्रिटेन के शहरों से इनकी तुलना करें और यह देखें कि इस समय यहाँ जो व्यापार बढ़ा, वह वैसा ही था जैसा पहले के सामन्ती समाज में था या उसका कुछ और महत्व था। जो लोग यह नहीं मानते कि हमारा जातीय निर्माण १६वीं सदी में आरम्भ हुआ था वे इस बात की व्याख्या करें कि ब्रजभाषा की कविता अपने क्षेत्र से बाहर जनसाधारण में क्यों लोकप्रिय हो रही थी, रामचरित मानस अवध के बाहर क्यों लोकप्रिय हो रहा था, तुलसीदास ब्रज और अवधी दोनों में क्यों लिख रहे थे, इस समय के कवियों की रचनाओं में अनेक बोलियों के शब्द और व्याकरण-रूप क्यों मिलते हैं ? ऐसे

सज्जन साहित्य की भी साखी लें और देखें कि सन्त साहित्य के सामंत-विरोधी मूल्यों का सामाजिक आधार क्या है, वह साहित्य अनेक जनपदों की जनता का साहित्य बना था या नहीं और उसको सामंत-विरोधी जातीय चेतना को प्रकट करता है या नहीं। इस तरह आर्थिक जीवन, साहित्य-निर्माण और भाषा-विज्ञान—तीनों की दृष्टि से १६वीं-१७वीं सदी का समय हमारे जातीय उत्थान और जातीय गठन का युग ठहरता है।

जो लोग इस जातीय विकास और जातीय गठन का कार्य पूरा नहीं होने देना चाहते, उनसे निवेदन है कि वे इस तथ्य पर विचार करें कि हर संस्कृति की जातीय विशेषताएँ होती हैं, जातीय रूप होता है, हर भाषा की पूर्ण समृद्धि के लिए उसे बोलने वाली जाति का गठन आवश्यक होता है। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, भाषा और संस्कृति के विकास और समृद्धि को रोकना। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, किसी जाति के अन्दर विद्यमान राज्यसत्ता के जीवाणुओं को कुचलना। भारत का विकास उसकी विभिन्न जातियों के विकास से ही सम्भव है। इसके लिए बड़ी संख्या वाली जातियों के राज्य बनाना, छोटी संख्या वाली जातियों के स्वायत्त प्रदेश कायम करना, प्रत्येक जाति को अपनी ही भाषा में शिक्षा पाने और अपना सांस्कृतिक जीवन संगठित करने का अधिकार देना आवश्यक है। एक जातीय प्रदेश के अन्दर दूसरी भाषा और जाति के अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा भी आवश्यक है। इस तरह भारत सशक्त जातियों का संघ बन कर अजेय होगा। यदि जातियाँ असन्तुष्ट होकर लड़ती रहेंगी तो देश कमजोर होगा। बड़ी जातियों से छोटी जातियों को भय न हो, इसके लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि सभी जातियों को समान प्रतिनिधित्व देने वाला ऐसा परिषद् कायम किया जाय जो लोकसभा के भारतव्यापी कार्यों पर नियंत्रण रख सके।

आज के भारत की एक अमिट सच्चाई है—विशाल हिन्दी-भाषी जाति। उससे आँख चुरा कर कोई समस्या हल नहीं की जा सकती। अब समय आ गया है कि अपनी जातीय एकता कायम करने के लिए हिन्दी-भाषी जन आगे बढ़ें।

